

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186349

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No

H 80

Acc.No H 4108

S 53 P

शास्त्री आचार्यश्री. G
प्राच्यसाहित्य

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No

H 80

Accession No. H 4108

Author

S S 3 P

Title

२११२११ आचार्य श्री
जान्य माहिन्य

This book should be returned on or before the date
last marked below

--	--	--	--

प्राच्यसाहित्य

आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री



कल-निकेतन

घटना-४



प्रथम संस्करण

वसन्त-पञ्चमी, वि० सं० २०१३ : फरवरी, १९५७ ई०

पाँच रुपए

मुद्रक

श्री रामकिशोर मिश्र

युगान्तर प्रेस

रमनाबाग, पटना-४

स्वनामधन्य साहित्य-महारथी

आचार्य श्री शिवपूजन सहाय जी

के

तपःपूत कर-कमलों में

सादर-सप्रश्रय

समर्पित



लेखक

विज्ञप्ति

काव्य तथा काव्यालोचन की ओर मेरा सहज झुकाव है। बचपन में राजशेखर श्रीहर्ष, पण्डितराज एवं नवयौवन में मैथ्यू आर्नल्ड, टैगोर, निराला के अध्ययन से मेरी रुचि क्रमशः प्रवृत्ति में बदलती गई। पर 'मेरे मन कछु और है बिधना के कछु और'; संघर्षशील जीवन में मार्जन तथा विकास के लिए उचित अवसर न मिलने के कारण मेरे वे सपने साकार न हो सके जो इस अपने बाँटे पड़े, सत्य से कदाचित् अधिक मूल्यवान् सिद्ध होते। फिर भी, अश्रुत स्वर-लहरी को मधुरतर प्रमाणित करने के लिए मैं यहाँ कवि काट्स का सहारा न लूँगा। संबलहीन यात्रा भी तो निष्फल नहीं!

'प्राच्यसाहित्य' में मेरे पच्चीस लेख संगृहीत हुए हैं जिनमें चौदह अपेक्षाकृत नए और ग्यारह लगभग बीस साल पुराने हैं। संग्रह का चौदहवाँ लेख मेरा सबसे पहला प्रयास है जो सन् '३५' में 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था।

सन् '३५'-३६ के अधिकांश लेख कथाशेष हो गए। प्रकाशित लेखों में भी कुछ अनुसन्धेय हो गए हैं और कुछ अप्राप्य। एक (कुन्दमाला) का उद्धार प्रख्यात कवि, कथाकार एवं आलोचक बन्धुवर श्री त्रिलोचन शर्मा ने काशी-नागरी-प्रचारणी सभा की पुरानी फाइलों से ढूँढ़कर किया है, उनकी अभिज्ञता के प्रति आभार प्रकट करते हुए भी संकोच होता है।

हिन्दी में लिखते हुए भी मैंने साहित्य का अर्थ हिन्दी-साहित्यमात्र कभी नहीं माना। आलोचना के क्रम में मुझे हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बँगला, अँगरेजी और उर्दू-साहित्य की भी परिक्रमा करनी पड़ी है। 'प्राच्यसाहित्य' में प्राचीनों की प्रचुरता है तो 'त्रयी', 'स्थायी भाव और सामयिक साहित्य' आदि में आधुनिकों की ही अधिकता है। यों तो, साहित्य दर्शन, चिन्ताधारा और त्रयी के बाद यह मेरा चौथा संग्रह प्रकाश में आ रहा है; किन्तु मेरे अब तक के लिखे समस्त निबन्ध अभी और चार संग्रहों में भी कदाचित् ही पूरे होंगे।

अपने जीवन के समान किसी संग्रह-विशेष को भी मैं प्रतीक-प्रतिमान नहीं बनने देना चाहता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मेरे प्रत्येक संग्रह का 'स्वानं दुवानं

मबवानमाह' होना है। जिसे मजे में छोड़ दिया जा सकता है, उसे रख छोड़ने में भी एक तरह का मजा है। इस प्रकार जो संग्रहणीय खो गए हैं, उनकी प्रतिपूर्ति का काटूँन भी बनता है और इस आशा की दिशा भी उदार हो जाती है कि कौन जाने, उन्हीं सूखे-गीलों में से कोई किसी को जँच जाय।

जीने के क्रम में मैं जब जिस साहित्य या साहित्यकार से छू जाता हूँ तब उस पर लिखता हूँ। कभी-कभी परिस्थिति की अनुकूल बाध्यता भी प्रेरणा बन जाती है। किन्तु, किसी निर्दिष्ट योजना के अनुसार यह काम कभी नहीं किया। अवश्य उस 'आत्म-संस्पर्श' को कलात्मक प्रकाश देने योग्य अवकाश मुझे नहीं मिला। अतः, अपनी सहजता में सम-विषम पक्षों से प्रवाहित होनेवाली प्रस्तुत विचारधारा में निर्मलता और आविलता—दोनों की उपस्थिति सम्भव है।

उपादेय तथा अनुपादेय के बीच सीमान्त रेखा खींचकर तर्कों, युक्तियों एवं प्रमाणों का गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा करना यदि आलोचना की कला है तो मैं इसमें कतई कोरा हूँ। मैं तो सत्य तथा सुन्दर का सन्धान करते हुए शिव-तत्त्व को अपने ही व्यक्तित्व में समाहित कर लेने के पक्ष में हूँ। ऐसे में सम्भव है, 'स्वार्थ' 'शिवार्थ' न बन पाए और सत्य तथा सुन्दर भी एक आग्रह के रूप में शेष रह जाए! सच तो यह कि मैं कला को 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' माननेवालों में हूँ; जनता सरलता से समझ लेती है, इस बहाने अशुद्ध तथा दुर्बल भाषा को नहीं प्रश्रय देना चाहता; सुनते ही दिल में उतर जाने के लिए सीधे-सपाट विचारों को ही नहीं प्रचारित करना चाहता। इस दिशा में मुझे टेढ़े-मेढ़े रास्ते भी पसन्द हैं। अस्तु,

प्रस्तुत संग्रह के कुछ निबन्ध ऑल इण्डिया रेडियो के सौजन्य से प्रकाशित हो रहे हैं, तदर्थ अनुगृहीत हूँ। प्रकाशन मुद्रण-सम्बन्धी विशेषताओं का अशेष श्रेय बन्धुवर पं० शिवयोगी मिश्र तथा प्रियवर श्रीरत्नन सुरिदेव को है। मैं हृदय से उनका आभार स्वीकार करता हूँ।

मकर-संक्रान्ति
सं० २०१३ वि०

}

—नानकीवल्लभ शास्त्री

क्रम

विषय	रचना-काल	पृष्ठ-संख्या
१ - ध्वनिशास्त्र का मङ्गलाचरण	नवम्बर '५०	१-१७
२ - ध्वनि के स्वरूप-निरूपण के पूर्व	नवम्बर '५०	१८-६२
३ - काव्यशास्त्र : वामन	अक्टूबर '४८	४३-५३
४ - काव्यशास्त्र : रुद्र		५४-६१
५ - कालिदास का कल्पना-वैभव		६२-६७
६ - जयदेव का गीतिकाव्य		६८-७३
७ - संस्कृत-साहित्य में नारी		७४-७६
८ - संस्कृत-कव्य-नाटकों में व्यंग्य		८०-८५
९ - माघे सन्ति त्रयो गुणाः		८६-८२
१० - शृङ्गारशतक		८३-८७
११ - संस्कृत की पावस-प्रकृति		८८-१०३
१२ - राजर्षि जनक		१०४-१०६
१३ - संस्कृत का सर्वप्रिय नाटक		११०-११५
- महाकवि कालिदास की सर्वश्रेष्ठता	नवम्बर '३५	११६-१३२
१४ - कुन्दमाला	अप्रैल '३७	१३३-१५१
१५ - आचार्य दिङ् नाग और कवि कालिदास	अगस्त '३७	१५२-१५४
१७ - कालिदास और तुलसीदास का शृङ्गार-वर्णन	मार्च '३६	१५५-१५६
१८ - मानस में सीता	मार्च '३६	१६०-१६४
१९ - प्रकृति, नारी और कविता	मार्च '३८	१६५-१७२
२० - जयदेव और विद्यापति	अप्रैल '३६	१७३-१८८
२१ - गीता और गीताञ्जलि	अक्टूबर '३६	१८९-२१०
२२ - भक्ति और शृङ्गार	अक्टूबर '३६	२११-२२०
२३ - ब्राह्मण	नवम्बर '३६	२२१-२३२
२४ - विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की उपमाएँ	अप्रैल '३६	२३३-२४२
२५ - काव्य तथा काव्यालोचन की सीमाएँ		२४३-२५८

प्राच्यसाहित्य

ध्वनिशास्त्र का मङ्गलाचरण

किस विशिष्ट स्थिति में कोई वाक्य 'काव्य' कहलाने का अधिकारी हो जाता है, इसकी सिलसिलेवार छानबीन हुई है। कोरे वाक्य को काव्य कोई नहीं कहता। अलङ्कृत वाक्य को काव्य मान लेने पर भी 'अलङ्कार' को लेकर चलनेवाले वाद-विवाद की कमी नहीं। वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास की कृतियों में ऐसे शत-शत अनलङ्कृत वाक्य हैं जिन्हें उच्चकोटि का काव्य सदियों से माना जाता रहा है। अलङ्कार शब्द के अर्थ-विस्तार के बिना उनका समन्वय सम्भव नहीं। कारण, रूढ़ अलङ्कार-वादियों के दायरे में वे नहीं आते; नहीं आ सकते। यहीं अलङ्कारशास्त्र को ध्वनिशास्त्र की अपेक्षा है।

यहाँ अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों की कथा नहीं कहनी है। वह अनन्त हरि-कथा कव से भक्तों का कर्णामृत बनी हुई है ! इतने पर भी ध्वनिशास्त्र का दावा है कि शब्दार्थ के ज्ञानमात्र से काव्य के सार अर्थ को नहीं जाना जा सकता, केवल काव्यार्थ का तत्त्वज्ञ ही उसे जान पाता है। यहाँ संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त सम्प्रदाय शब्दार्थ के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रह जाते हैं, यद्यपि अलङ्कार-मत से रीति-मत अधिक सूक्ष्म तथा व्यापक है और वक्रोक्तिमत उससे भी अधिक परिष्कृत। यों तो, रीति एवं वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने की ही चेष्टा की गई है; किन्तु ध्वनि की छाया में आए बिना उन्हें 'देहात्मा' से अधिक मानना सम्भव नहीं और यदि खींचतान कर वे (रीति-वक्रोक्ति) भी ध्वनि का छोर छूती दिखलाई जायें, तो फिर नाममात्र का ही विवाद शेष रह जाय !

कविगण वस्तु अथवा भाव के सहारे काव्यरचना करते देखे जाते हैं। अभिधा तो अभिव्यक्ति की सर्व-सुलभ शैली है ही, लक्षणा की पहुँच भी अलङ्कारों ही तक होती है; भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति व्यञ्जना की अनिवार्यता पर निर्भर है। यों भी व्यञ्जना अभिव्यञ्जना

मात्र को सरस-सुन्दर बना देने की क्षमता रखती है। इसीलिए वाच्य वस्तु और अलङ्कार की अपेक्षा व्यङ्ग्य वस्तु और अलङ्कार अधिक वेधक होते हैं। जहाँ व्यङ्ग्य प्रधान रहता है वहाँ उसका ध्वनिशब्द से व्यवहार किया जाता है। ध्वनिशास्त्र में इन तीनों (वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि) ध्वनियों का विस्तृत विवेचन है। प्रस्तुत मङ्गलाचरण में इन तीनों का समावेश किया गया है जिस कारण यह बत्तीस अक्षरों का छन्द अर्थचमत्कार में ध्वनि-प्रतिध्वनियों से परिपूर्ण संगीत-समारोह-सा आकर्षक हो उठा है ॥३॥

स्वेच्छा-केसरिणः स्वच्छस्वच्छायाऽऽयासितेन्दवः

आयन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ।

[स्वेच्छा से सिंह-रूप-धारी मधुसूदन के, अपनी निर्मल आभा से चन्द्रमा को परास्त कर देनेवाले और शरण में आए हुए की पीर हरनेवाले नाखून तुम्हारी रक्षा करें।]

(१) 'स्वेच्छा-केसरिणः' विशेषण से यह ध्वनित होता है कि नारायण ने अपनी ही इच्छा से यह विग्रह (नरहरि रूप) धारण किया, कर्म की परवशता अथवा किसी दूसरे की प्रेरणा से नहीं। अर्थात्

*मैं निरी अपनी श्रुतभूति की बात कहूँ, तो मुझे सर्वत्र उल्टी गंगा बहती दिखलाई देती है। मुझे व्यास की शैली वस्तु-प्रधान, वाल्मीकि की अलङ्कार-प्रधान और कालिदास की ही ध्वनि-प्रधान प्रतीत होती है। मेरी दृष्टि में व्यास अभिधावादी, वाल्मीकि लक्षणावादी और कालिदास व्यञ्जनावादी हैं। ध्वनितत्त्व से ओत-प्रोत होने के कारण ही कालिदास में सहज-संचितता का आविर्भाव हुआ है। ध्वनिशास्त्र की कसौटी पर उनकी-सी और किसी की काव्य-प्रतिभा खरी नहीं उतरी। आनन्दवर्धन का यह छन्द सचेष्ट कल्पना और सायास निर्वाह के कारण लक्ष्य-लक्षण-शैली से ऊपर नहीं उठ सका है। कालिदास की प्रतिभा के समझ तो यह प्रभातचन्द्र-सा पाण्डुर है।

आश्चर्य्य है कि ध्वनि-तत्त्व का उद्घाटक न तो स्वयं ध्वनिकाव्य की सफल सृष्टि कर सका और न उसके मर्मज्ञ परवर्ती कवि ही। यह कार्य्य बहुत पहले कालिदास द्वारा अज्ञातभाव से सम्पन्न हो गया था।

—ले०

साधारण प्राणियों की भाँति उन्हें कर्म की परतन्त्रता नहीं; कर्म के अधीन रहकर समय-समय पर चोला बदलते रहने की बेबसी नहीं है। ऐसा होता तो उनकी स्वतन्त्रता छिन जाती; वह सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र न हो सकते; सर्व-शक्तिमान् न कहे जा सकते और यदि ऐसा ही होता तो अपना सँभालने से ही उन्हें छुट्टी न मिलती, वह औरों की बिगड़ी क्या बनाते ?

‘केसरी’ शब्द भी अपने अन्य पर्यायवाची शब्दों से अधिक भाव-प्रवण है; क्योंकि ‘सिंह’ कहने से ‘हिंसकता’ भलकती; ‘मृगेन्द्र’ कहने से ‘पशुओं का राजा’ या ‘हिरने-ऐसे दुर्बलों के बीच वीरता प्रदर्शित करनेवाला’ ही समझा जाता; किन्तु कन्धे पर झालरदार बालों (केसर) के लहराते रहने से जैसे केवल मूर्त्तिमान् शौर्य ही आँखों में घूम जाता है।

तब स्वेच्छा से ही वैसा मूर्त्त शौर्य-जैसा केसरी रूप धारण करने का एक ही कारण हो सकता है और वह यह नहीं कि जब अपनी इच्छा की ही बात ठहरी, तो चाहे वह ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्’ बन जायँ, चाहे ‘मशक समान रूप कपि धरई।’ प्रत्युत एक विशेष प्रकार के दानव का - ऐसे दानव का जो अपनी घोर तपस्या से सुर, नर या तिर्यग्योनि से अवध्यता का वर प्राप्त कर स्वच्छन्दचारी हो सृष्टि की स्थिति ही भेद देना चाहता था!—संहार करने के लिए, उसी के अनुरूप स्वरूप धारण करने के औचित्य से ही, उन्होंने नरहरि का बाना बनाया। अर्थात् उस दुर्द्धर्ष दानव का संहार करने की इच्छा जैसे उनके मन में आप ही उत्पन्न हुई, किसी ने ऐसा करने के लिए उन्हें आदेश नहीं दिया; विवश नहीं किया, बल्कि लोक-मङ्गल की सहज इच्छा जैसे उनकी अपनी प्रकृति है, वैसे ही, ‘नरसिंह का ही रूप धारण करो’—इस प्रकार का कोई नियन्त्रण भी उनके समक्ष न था, उन्होंने स्वेच्छा से ही सुर, नर और तिर्यक् की समष्टि से एक अदृष्टपूर्व चोले की सृष्टि की।

(२) ‘मधुरिपोः’ अथवा मधुसूदन के। वैसे यह शब्द विशेषण के समान जान पड़ता है; किन्तु यहाँ यह है विशेष्य। नारायण का पर्याय मधुरिपु (मधुसूदन, मधुमथन) है। अमरकोष में—‘पद्मनाभो

मधुरिपुर्वासुदेवस्त्रिविक्रमः' आता ही है। अवश्य यह यहाँ अनेक नामों में से एक नाम मात्र की भाँति प्रयोग में नहीं आया है। इसका कुछ विशिष्ट तात्पर्य है; इसमें एक चमत्कारकारी ध्वनि है।

मधु नामक एक दैत्य-विशेष का विध्वंस करने के कारण नारायण का नाम मधुरिपु पड़ा है; और, इस प्रकार यह नाम अपने चार अक्षरों में एक सम्पूर्ण इतिहास समेटे हुए है। यहाँ इसके प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि लोकमङ्गल के लिए नारायण ने यह पहली बार नरहरि का रूप नहीं धारण किया, प्रत्युत यह उनकी पुरातन प्रकृति है। जब जब असुरों की बढ़ती होती है, आसुरी शक्ति की, उसी समय की, अभिव्यक्ति का अनुरूप उन्हें अपनी महाशक्ति का विराट् प्रदर्शन करना पड़ता है। यह उनकी युग-युग की कहानी है। 'सम्भवामि युगे-युगे।'

(३) 'स्वच्छ-स्वच्छायायासितेन्दवः।' आचार्य्य अभिनवगुप्त ने अपने गुरु के निर्देशानुसार इसकी अद्भुत व्याख्या की है। अद्भुत इसलिए कि उसमें मुझे कुछ खींच-तान दिखती है। पहले तो उन्होंने 'स्वच्छ' का अर्थ 'स्वच्छता' किया है। उनकी युक्ति है कि स्वच्छ, मृदु आदि शब्द मुख्यतः 'भाव-वृत्ति' होते हैं,—'भाव-वृत्ति' अर्थात् स्वच्छता, मृदुता आदि अपने-अपने धर्म या गुण के वाचक;—एक शब्द में,—भाव-वाचक। और इस प्रकार इस 'स्वच्छ (या)' का अर्थ हो गया—स्वच्छता या निर्मलता से। और 'स्वच्छायाया'- अपनी छाया (वक्र, किन्तु सुन्दर आकृति) से भी इन्दु को आयासित कर देनेवाले।

फिर उनके अभिप्राय की रक्षा या निर्वाह करने के लिए यहाँ 'इन्दु' का व्यङ्ग्यार्थ 'वालेन्दु' समझना चाहिए। पारिभाषिक शब्दों में इसे 'अर्थशक्तिमूलक अनुरणन-रूप स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि' कहा जायगा।

वक्र आकृति पूर्णेन्दु की नहीं होती। 'वक्र चन्द्र जिमि ग्रमे न राहू' प्रसिद्ध ही है। ग्रहण पूर्ण चन्द्र का होता है। यह ऐसी वक्रता यों तो अष्टमी तक चलती जाती है,—मापने पर चतुर्दशी तक भी गुंजाइश है, किन्तु यहाँ चूँकि नाखूनों से होड़-होड़ी है, दूज से चौथ तक के वक्र, किन्तु मनोहर बाल चन्द्र से ही उसकी सम्भावना है। वैसा ही नन्हा-मुन्ना-सा चाँद नाखूनों की अपनी-सी बाँकी-फवीली छवि देख

हैरान हो सकता है। ध्वनि-पक्ष में इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चूँकि वक्र-मनोहर आकृति से बाल चन्द्र ही आयासित हो सकता है इसलिए 'स्वच्छ-स्वच्छाया' के अर्थ (वक्र-मनोहर आकृति) की सामर्थ्य से 'इन्दु' पद से 'इन्दु' का 'बाल्य' या 'बालेन्दु' ही ध्वनित होता है।

'आयासित' कहने से ध्वनित होता है कि उन बाँके-चमकीले नाखूनों के मुकाबले चाँद बिलकुल ही फीका-फीका, बुझा-बुझा सा दिखता है। चीथने, खुरचने, खरोंच लगाने में चोखे नाखूनों का क्या कहना? इस हुनर से वह किसी को भी हैरान कर सकते हैं ! यह उनकी पुरानी प्रशस्ति है। इस रूप में उनकी आयासकारिता विश्व-विदित है। यहाँ नर-सिंह के नाखून होने से अवश्य कुछ और सिफत आ गई है। फीके चाँद के मुकाबले इनमें चार चाँद लग गए हैं कि जिससे इनकी अकलङ्क बंकता और अनोखी चमक-दमक उसके घुटन पैदा करने लगी है। उसका अपना बाँकपन भूल गया है। चाँद सोचने लगा है कि भले ही हमारे आकार-प्रकार में समानता हो; चमकीले और टेढ़े-बाँके हम एक-से ही दिखते हों, परन्तु ऐसा तो नहीं है कि मेरे किए भी किसी का कुछ भला होता हो जबकि अनगिनत दुखियारे उनकी शरण में आते हैं और वे सहज भाव से सबका दुख-दर्द मेट देते हैं।

इस विषमता के भीतर से व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित होता है, क्योंकि इस प्रकार उपमान (बालचन्द्र) से उपमेय (नर-नाहर के नख) अपने विशिष्ट गुणों (शरण में आए हुए की पीर हरने) से बढ़ता प्रतीत होता है।

इसके साथ ही इसमें 'उत्प्रेक्षा' और 'अपह्नुति' नामक अलङ्कारों के संकर (अङ्गाङ्गिभाव से सम्मिश्रण) की भी ध्वनि है।

यहाँ उत्प्रेक्षा का ऐसा स्वरूप होगा—

कि पहले तो वस मैं ही मैं था। मेरी ही निर्मलता और सुन्दरता की सब कहीं चर्चा थी। सबके प्यार का मैं ही एकमात्र आधार था। पर अब तो सारा ठाठ ही बदल गया। मेरे वे सौभाग्य के दिन सदा के लिए लद गए। अब एक की कौन कहे, यहाँ दस-दस नए सलोने (बाल-चन्द्र) हो गए कि जिनके गुणों के आगे मुझ-जैसी सूरतवाले सात

प्राच्यसाहित्य

पानी भरें ! अब भला मेरा क्या काम रहा ? लोग ललककर इन्हीं की बलैयाँ लेंगे । अब से इन्हें ही चाँदों की टोली समझ भोली आँखें चकोरी के चाव से निहारेंगी । जैसे—इसी कसक से खोया-खाया-सा चाँद बिसूरने लगा हो !

और अपहृति इस प्रकार—

कि सचमुच ही ये नर-नाहर के नाखून नहीं हैं' बल्कि छोटे-छोटे चाँद ही हैं—लोग ऐसा ही तो समझेंगे ।

फिर दोनों के अज्ञाङ्गिभाव संकर का कारण यह है कि यहाँ अपहृति के सहारे ही उत्प्रेक्षा खड़ी है । क्योंकि यदि लोग नाखूनों को चाँद न समझें तो फिर असली चाँद के बिसूरने की कोई बात ही नहीं रह जाती । उसका मान सम्मान ज्यों का त्यों बना रह जाता है । इसलिए, अपहृति की कल्पना उत्प्रेक्षा को जड़ जमाने में सहायता पहुँचाती है । सहायक होने के कारण ही वह अङ्ग-रूप में उपस्थित होती—फलक दिखाकर उत्प्रेक्षा के प्रधान शृङ्गार को निखार देती है । क्योंकि नख को चाँद मान लेने की अपेक्षा, इसी कसक से चाँद के बिसूरते रहने में अधिक चमत्कार है ।

दूसरी ओर, यदि असली चाँद हैरान न होता, तो इन नाखूनों के चाँद माने जाने का कुछ भी गौरव न रह जाता । अतः दोनों अलङ्कारों की आपस की अपेक्षा स्पष्ट है और यह अपेक्षा ही सांकर्य का बीज है ।

इस प्रकार यहाँ 'उत्प्रेक्षाऽपहृति' की भी सम्मिलित ध्वनि है ।

वस्तुतः बेचारे बालक चन्द्रमा को आयासित करने के लिए गुरु-शिष्य (भट्ट इन्दुराज और आचार्य्य अभिनव गुप्त) दोनों ने अत्यधिक आयास किया है । दो दाँत के बालक की शिकस्तगी के लिए यह—'ऐसी चक्रव्यूह-रचना देख कालिदास अनायास याद आ जाते हैं—'तेजसां हि न वयः समीचयते ।' चन्द्रमा चाहे जितना छोटा हो, उसकी तेजस्विता तो स्पर्द्धा की वस्तु है ही ।

यहाँ यह इसलिए कहा जा रहा है कि उपर्युक्त आचार्यों ने 'स्वच्छ' को भाववाचक संज्ञा का शब्द मान, स्वच्छता या निर्मलता को बाल चन्द्रमा को आयासित करने का एक पृथक् और स्वतन्त्र अस्त्र बना

लेने की तत्परता दर्साई है। उन्हें 'स्वच्छाया' के विशेषण के रूप में 'स्वच्छ' शब्द ग्राह्य नहीं हुआ है। क्योंकि तब—विशेषण बना देने पर—वह अपेक्षाकृत मलिन हो जाता न? फिर स्वच्छ को मलिन बनाने की भूल वह सहृदय आचार्य्य क्यों करते? विशेषण अप्रधान होता है, विशेष्य की विशेषता बखानना ही उसका काम है।

अब यह देखना चाहिए कि विशेषण के रूप में रख छोड़ने पर विशेष्य के साथ वह सिर ऊँचा कर रह सकता है या नहीं। मेरे विचार से रह सकता है। विशेषण की अप्रधानता का भी कुछ खास अर्थ होता है। ऐसा नहीं कि विशेष्य अपनी प्रधानता की शेखी में विशेषण की आग पर राख डाल देता या कबूतर की तरह 'दीदा' उलट लेता है। ऐसी कोई बात नहीं। 'अपनी निर्मल कान्ति से चन्द्रमा को क्लेशित करनेवाले' नखों में 'निर्मल' विशेषण की सार्थकता स्पष्ट है, क्योंकि जब तक नखों की कान्ति कान्ति-भर है, 'निर्मल कान्ति' नहीं, तब तक उससे इन्दु के आयासित होने की कल्पना ही निर्मूल ठहरती है—वक्रता और वर्तुलता की बात तो उसके बाद की है। वह उसका व्यंग्य अर्थ हो सकता है, परन्तु 'स्वच्छ' तो अपने आप स्वच्छ है। 'वक्रतावाला' ध्वनि सर्वमान्य नहीं भी हो सकती है, किन्तु 'स्वच्छ' को तो कोई नहीं अस्वीकार कर सकता।

हाँ, यदि यह शब्द धर्मिवाचक—सुस्पष्ट रूप में—विशेष्यवाचक न होता, तो फिर रचना की समन्विति के लिए वैसी खोंचतान चल भी सकती थी। अलवत्ता उस खिंचाव-तनाव से एक लाभ भी हुआ है और वह यह कि बालेन्दु को परास्त करने के लिए दो पृथक्-पृथक् शक्त कारण प्रस्तुत हो गये हैं—

(१) स्वच्छता और

(२) बाँकपन लिए मनोहरता।

अवश्य मुझे ये सारी युक्तियाँ नहीं छूनीं। क्योंकि इनमें रचनाकार के काव्य-कौशल से अधिक व्याख्याकार की ही विदग्धता लक्षित होती है। कुछ ऊटपटांगपन भी दीखता है। जैसे स्वच्छ और स्वच्छाया से आयासित कहने के कारण, इन्हीं शब्दों के अर्थ की सामर्थ्य से इन्दु को बालेन्दु मान लिया जाय, तो फिर स्वच्छतारूपी हेतु से उसके

प्रायासित होने की सम्भावना कैसे है ? कारण, अर्द्धचन्द्र तक की तो नैर्मलता स्वतः सिद्ध है, नाखूनों की स्वच्छता से निर्मल बालचन्द्र प्रायासित क्यों हो ? यदि कहें, साम्य देखकर ही वह हैरान हो रहा है, तो उसकी अपेक्षा तो उसे कलंकी दिखाकर नाखूनों की चमक से—स्वच्छता से परास्त करना अडिग चमत्कारकारी होता। किन्तु उस गोक में उसकी गुञ्जाइश ही नहीं है। वह तो तब होती जब इन्दु न लेखकर मृगाङ्ग, शशाङ्ग, शशधर-जैसा कोई शब्द लिखा गया होता। तब तो वहाँ तो चन्द्र (आह्लादक या दीप्तिमय) से भी बढ़कर इन्दु शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका वाच्य अर्थ भी परम ऐश्वर्यशाली होता है। उसे परास्त करने के लिए, स्वच्छता के गुण से ही सही, नाखून कितने चोखे होंगे ? तभी मैं उसका एक निराला अर्थ मानता हूँ और उस अर्थ के समर्थन की चर्चा आचार्य अभिनव गुप्त की उक्ति-प्रुक्तियों से कतराने पर ही जैसे-तैसे सम्भव है। मैं कहता हूँ कि ‘स्वच्छ’ को विशेषण बनाकर ही न छोड़ दिया जाय, बल्कि ‘स्वच्छाया’ को ‘स्वच्छायं’ समझा जाय और तब उसके समास की व्युत्पत्ति यह रहे कि स्वच्छेन स्वच्छायेन प्रायासितः इन्दुः यैः ते’।

पाणिनि के ‘छाया बाहुल्ये’ सूत्र की व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि छाया का अर्थ जहाँ छाँह हो वहीं, समास करने पर, नपुंसक लिंग हो सकता है, ‘कान्ति’ अर्थ में नहीं। जमी अभिनव गुप्त ने ‘स्वच्छाया’ लिखा है; किन्तु मैं तो इसी ‘छाँह’ अर्थ के पक्ष में हूँ, इसीलिए मैंने ‘स्वच्छायेन’ लिखा है। मेरे विचार से इसका अर्थ—‘अपनी सादी परछाई’ से भी चाँद को चुनौती देनेवाले (नाखून) होना चाहिए। फिर वह चाँद चाहे चौथ का हो, चाहे पूनो का। पूनो का हो तो और अच्छा, क्योंकि तब वह कलंक से भी परा-पूरा रहेगा जिसके मुकाबले इसकी बुलन्दी और जँचेगी।

‘स्वच्छाया’ का अर्थ ‘अपनी परछाई’ कर देने पर टेढ़ी-बाँकी भाँकी की बात जहाँ की तहाँ रह जाती है। अब समान धर्म के रूप में ‘स्वच्छ’ भर शेष रह जाता है और इन्दु को दूज से पूनो तक बढ़ते बले जाने का अवसर भी मिल जाता है। केवल स्वच्छता रूपी समान धर्म के रहने पर भी उपमानोपमेय भाव ज्यों का त्यों बना रहता है

और इस प्रकार भी व्यतिरेक के व्यक्तित्व को आँच नहीं आने पाती। अवश्य तब ध्वनि के स्वरूप में अन्तर होगा। अर्थात् इस आशय की ध्वनि होगी कि 'इधर तो मेरा बिम्ब भी निपट निष्कलंक नहीं और उधर नाखूनों की भाँई तक कोरी है, सादी है और साफ है।' प्रतिबिम्ब की निर्मलता निहार कर सकलंक बिम्ब का हार मानना, बिसूरना उचित ही है, तिस पर नाखूनों पर हमदर्दी की मुहर ऊपर से लगी है !

यदि कहें, नाखूनों के लिए ऐसे सोलह कलाओंवाले चन्द्रमा की कल्पना में कमनीयता नहीं, तो उसके उत्तर में मैं महाकवि श्रीहर्ष का निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत करूँगा—

‘यशः पदांगुष्ठनखौ मुखं च
बिभर्ति पूर्णेन्दुचतुष्टयी या ।
कलाचतुष्पष्टिरूपैतु वासं
तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नास्याम् ?’

—नै० च० ७ । १०७

कवि कहता है कि यह सुन्दरी दमयन्ती भला चौंसठों कलाओं से सँवरी हुई क्यों न हो, जब कि सोलह-सोलह कलाओंवाले चार-चाँद इसमें लगे हैं !

एक चाँद इसका यश बनकर छा गया है, दूसरा हाथ के नाखूनों में जड़ गया है, तीसरा पैर के नाखूनों में बिछ गया है और चौथा तो मुखड़े में समाया हुआ है ही !

कहना अनावश्यक है कि यहाँ हाथ-पैर के नाखूनों में सोलह कलाओं वाले चाँद की ही चर्चा है। ऐसे वर्णनों की गिनती नहीं। इतने पर भी, यदि दस-दस चन्द्रमाओं से एक बाल चन्द्रमा की फजीहत करानी ही ठीक हो, तो आचार्य्य अभिनव गुप्त द्वारा प्रदर्शित पथ भी छिपा हुआ नहीं है।

अब रही बात इसमें उत्प्रेक्षा और अपह्नुति के अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर की ध्वनि की, सो उस पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

‘उत्प्रेक्षा’ शब्द का अर्थ है—उत्=उत्कट, प्र=प्रवृष्ट (उपमान) की इक्षा। इक्षा का अर्थ, यों, देखना या आँकना है, परन्तु यहाँ सीधी भाषा में ‘ज्ञान’ कहना उचित होगा। अर्थात् उत्प्रेक्षा वह अलङ्कार है

जिसमें उपमेय की उपमान के साथ एकता—तादात्म्य भाव से एकरूपता—द्वारा कोई योग्य कल्पना की जाती है। इसमें एक ही बात लक्ष्य करने की है कि उपमेय में ही उत्कट (तीव्र, सुनते ही मर्म में पैठ जानेवाला) उपमानकोटिक संशय रहना चाहिए, उपमान-उपमेय—दोनों कोटियों में तुल्यबल संशय रहने पर तो 'संशय' अलङ्कार हो जायगा। इसी प्रकार उपमा में उपमानोपमेय भाव वास्तविक या लोक-प्रसिद्ध रहता है, और उत्प्रेक्षा का उपमान निरी कवि-कल्पना पर ही टिका हुआ रहता है।

संक्षेप में, उत्प्रेक्षा का यही स्वरूप है। मन्थे, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, इव आदि शब्दों के बिना भी यदि उसकी चमत्कारकारिणी प्रतीति होती रहे, तो उसे अलङ्कार मात्र न कह कर उत्प्रेक्षा-ध्वनि कहेंगे। विश्वनाथ ने प्रतीयमान उत्प्रेक्षा से उत्प्रेक्षा-ध्वनि का स्पष्ट अन्तर भी बतलाया है; किन्तु उसकी विवेचना में उतरना अप्रासङ्गिक समझ कर ही यहाँ छोड़ दिया जा रहा है। सहृदया के विनोदार्थ केवल उत्प्रेक्षा-ध्वनि का एक सुन्दर उदाहरण 'हाल' की 'सत्तसई' से उद्धृत किया जा रहा है, जिसमें प्रवृत्तधर्मिक अप्रकृत की संभावना सामग्रा-समेत है जैसा विवेच्य पक्ष में नहीं है :—

‘महिलासहस्रभरिण तुह हिअण सुहअ सा अमाअन्ती ।

दिअहं अणणणकम्मा अहं तणुअं पि तणुएइ ॥’ (२।८२)

प्रेमी युवक को उसकी प्रेमिका की सखी कहती है—‘सुन्दर, हजारों प्रेयसियाँ बसाए हुए तुम्हारे हृदय में प्रवेश पाना असम्भव समझ कर वह बेचारी घर के सारे काम-धन्ये छोड़, बस, दिन-दिन भर अपनी पतली-छरहरी देह को और-और पतली ही बनाती चली जा रही है।’

इस ‘गाथा’ से उत्प्रेक्षा यों ध्वनित होती है कि ‘रहिमन भरी सराय लखि आपु पशिक फिर जाय’ के विपरीत साहसपूर्वक यदि वह वहाँ ठौर पाने का आग्रहिणी हो तो ? बस, इसी के लिए जैसे वह पहले से ही अपने दुबले-पतले बदन को और-और घिस-घिसा कर, छीजने देकर, प्रियतम के मन के परमाणुओं से एकाकार होने दे रही है। ‘पैठ पाने के लिए हो मानो’—यही फलोत्प्रेक्षा ‘पैठ पाना’ रूपी फल की संभावना के कारण यहाँ ध्वनित है। उत्प्रेक्षा-वाचक किसी भी शब्द

के बिना यहाँ वाक्य अटकता नहीं है, ऐसा होता तो विश्वनाथ के अनुसार इसमें 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' ही होती। इस प्रकार प्रकृतधर्मिक अप्रकृत की सम्भावना यहाँ स्पष्ट है। ऐसी सम्भावना की (रमणीयतद्धर्म-सम्बन्धादिरूप) सामग्री भी यहाँ पूरी तरह प्रस्तुत है।

भरे-पूरे हृदय में 'प्रवेश पाने के लिए ही' जैसे पतली से पतली पड़ती जाना रमणीयता लिए हुए ही है। यों वह अनचाही होने के कारण घुल रही है; छाँजती चली जा रही है, यही वास्तविकता है; किन्तु यहाँ उसके छाँजने का जो हेतु उत्प्रेक्षित है उसका चमत्कार ममस्पृक् है ही।

'फलात्प्रेक्षा' में नियमपूर्वक 'निमित्त' का उपादान होता है और उसके साथ ही उत्प्रेक्ष्यमाण का निमित्त 'हेतु' ही हुआ करता है।

अस्तु, इसी प्रकार 'अपह्नुति' में प्रकृत का निराकरण करते हुए अप्रकृत की स्थापना की जाती है; यही अपह्नुति का सामान्य स्वरूप है :—

'प्रकृतं प्रतिविध्यान्वस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।' —विरचनाथ

पण्डितराज ने इसमें कितने ही भेद-उपभेद प्रदर्शित किए हैं और अलङ्कार-सर्वस्व तथा चित्रमीमांसा की परिभाषाओं की आलोचना की है। उपमेय का निषेध एवं उपमान का आरोप—अपह्नुति के इन दोनों भागों का उसी सिलसिले में विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। यहाँ ध्वनिवाला अंश ही प्रसङ्ग-प्राप्त है; अपह्नुति-ध्वनि के उदाहरण में उनका पद्य है :—

'दयिते रदनत्विषां मिषादयि तेऽग्नी विलसन्ति केसराः ।

अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽल्यः ॥'

प्रेमी की, प्रेयसी के प्रति, उक्ति है कि यह तुम्हारे दाँतों की कान्ति नहीं, किञ्चलक-परम्परा है और ये अलक भी मकरन्द के प्रेमी अलि-गण हैं। इसमें दो अपह्नुतियाँ तो वाच्य ही हैं। पूर्वार्ध में दन्तकान्ति (उपमेय) का निषेध कर केसर (उपमान) आरोपित हुआ है और उत्तरार्द्ध में अलक (उपमेय) का निषेध कर अलि (उपमान); किन्तु इन दोनों वाच्य अपह्नुतियों से तृतीय—मुख्य—अपह्नुति की व्यञ्जना होती है कि तुम नारी नहीं, पद्मिनी हो। क्योंकि अवयवीभूत नारीत्व

प्राच्यसाहित्य

के निषेध और कमलिनीत्व के आरोप का उपाय ही अवयव दन्तकान्ति और अलक का निषेध एवं किंजल्क तथा अलि का आरोप है ।

विवेच्य पद्य में—‘स्वच्छ-स्वच्छायायासितेन्दवः’ इस विशेषण के द्वारा विना खींच-तान किये, प्रकृत के निषेध के साथ अप्रकृत की स्थापना नहीं सिद्ध होती और खींचतान में अलंकार का चमत्कार नहीं रहता है, फिर व्यञ्जना के लिए तो उसकी मुख्यता और मार्मिकता भी अपेक्षित होती है ।

(४) प्रपन्नार्तिच्छिदः=प्रपन्नों अर्थात् शरण में आए हुआ की, अर्ति के छेदी=पीड़ा को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले; प्रह्लाद के ऐसे शरणागतों की पीर हरनेवाले ।

‘छेद्यत्व’ (=छेदन क्रिया का कर्तृत्व) नखों के लिए उचित ही है; नाखूनों में छिन्न-भिन्न करने—चीथने की योग्यता प्राकृतिक रूप से रहती ही है । अवश्य अर्ति का ‘छेद्यत्व’ (=छेदनकर्मत्व) असम्भव है, कारण, अर्ति मूर्त पदार्थ नहीं है, पाषाण-खण्ड की भाँति मूर्त रहने पर भी उसे नाखूनों से नहीं चीथा जा सकता । अतः अर्ति और नखों के बीच छेद्य-छेदक भाव की कल्पना कुछ ऐसी-वैसी ही लगती है यद्यपि अन्ततोगत्वा वह वैसी नहीं ।

वस्तुतः यहाँ जिनके नाखूनों की चर्चा की जा रही है जैसे वह अलौकिक अथवा अनन्य-साधारण हैं वैसे ही अलौकिक अथवा अनन्य-साधारण शक्ति रखनेवाले उनके नाखून भी हो सकते हैं । उनके नाखूनों की तुलना साधारण सिंह के नाखूनों से कैसे की जा सकती है ? साधारण सिंह के नाखूनों से अमूर्त ‘अर्ति’ खुरची भी नहीं जा सकती परन्तु, स्वेच्छाकेसरी के, स्वेच्छा से ही निर्मित, नाखून तो उसे चीथ भी सकते हैं । और नहीं तो ‘स्वेच्छा-निर्माण’ या मनचाहे गढ़न में विधि-विधान से बढ़कर कौन-सी विशेषता शेष रह जाती ? अतः मूर्त-अमूर्त दोनों को छिन्न करने की उनकी विशिष्ट योग्यता को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए ।

अथवा यदि यह अलौकिक क्षमता की बात लोक के गले के नीचे किसी भी प्रकार न उतरे तो उस घड़ी इस ‘अर्ति’ शब्द को लाभणिक

मान लेने में सुभीता रहेगा। अर्ति अर्थात् अर्तिकर = उत्पीड़क; तीनों लोकों को उत्पीड़ित करनेवाला हिरण्यकशिपु जैसे स्वयं मूर्त अर्ति हों, और केवल उसी के विनाश से जैसे स्वयं अर्ति ही उच्छिन्न हुई जाती हो! इस प्रकार भगवान् की शरण लिए हुए लोगों को उत्पीड़ित करनेवाले हिरण्यकशिपु को लक्षणा से 'अर्ति' कहा जाना समुचित ही समझा जायगा। और, 'अर्त्ति' का लाक्षणिक अर्थ अर्ति का कारण होने से व्यंजना वृत्ति से हिरण्यकशिपु का नियमपूर्वक त्रिजगत् का अर्तिकारित्व ध्वनित होता है। इस प्रकार 'अर्त्ति' शब्द का वाच्य अर्थ 'पीड़ा', लक्ष्य अर्थ 'पीड़ा पहुँचानेवाला' और व्यंग्य अर्थ 'निरन्तर पीड़ा पहुँचाते रहनेवाला' सिद्ध होता है।

अस्तु, ऐसी मूर्त आत्मा का उच्छेद करने से परमेश्वर की सहज परमकारुणिकता व्यक्त होती है। क्योंकि उनकी दृष्टि में हिरण्यकशिपु कोई एक प्राणी नहीं, साक्षात् पीड़ा ही था। फिर 'पीड़ा' का हनन करना तो प्राणि-बन्ध नहीं कहा जा सकता। अतः लोक-मङ्गल के लिए लोक के आलोक से पीड़ा को दूर हटा देना वस्तुतः कारुणिकता का ही व्यञ्जक है।

'देवि प्रपन्नार्त्तिहरे प्रसीद'—ऐसे प्रयोगों से प्रपन्नो (भक्तों) की अर्त्ति के हरण की बात अपनी परम्परा रखती प्रतीत होती है। कालिदास ने भी—'एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः' लिखकर इस आशय की पुष्टि की है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने 'अर्त्ति' के स्थान पर 'आर्त्ति' का ही सर्वत्र प्रयोग किया है। कोष में जहाँ पीड़ा और धनुस् की कोटि के अर्थ में इस शब्द की चर्चा है, कुछ लोग वहीं 'आर्त्ति' पाठ-भेद स्वीकार कर लेते हैं। वस्तुतः अर्त्ति और आर्त्ति दोनों ही शब्द शुद्ध हैं और दोनों पीड़ा के अर्थ में प्रचलित हैं। पीडार्थक 'अद्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'अर्त्ति' सिद्ध होता है और 'आर्त्ति' की सिद्धि 'आङ्' उपसर्ग के साथ 'ऋ' धातु से 'क्तिर्' प्रत्यय करने पर होती है।

श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में अर्त्ति का प्रयोग किया है—'गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्त्तिः।'।

प्राच्यसाहित्य

और कालिदास ने मेघदूत में समस्त पद के साथ इसका प्रयोग कुछ ऐसे ढंग से किया है कि दीर्घ सन्धि कर देने पर 'अर्त्ति' और 'आर्त्ति'—दोनों खप जा सकते हैं :—

‘आपञ्चात्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।’

—मेघ० पूर्व० ५३

किन्तु उन्होंने इसका व्यस्त प्रयोग भी किया है। ‘विक्रमोर्वशीय’ नाटक में ‘आर्त्ति’ शब्द आया है। मैं समझता हूँ, मेघदूत में भी अपनी ओर से उन्होंने ‘आर्त्ति’ ही लिखा होगा, अन्यथा यहाँ पर भी अर्त्ति का व्यवहार करने से न छन्दोभंग का भय था और न अर्थ में ही विपर्यय होने की सम्भावना थी। विक्रमोर्वशीय का वह श्लोक है—

“पर्य्यस्तुकां कथयसि प्रियदर्शनां ता—

मार्त्ति न पश्यसि पुरुरवसस्तदर्शाम् ?

साधारणोऽयमुभयोः प्रणयो, यतस्व,—

तां कौमुदीमिव समागमयेन्दुबिम्बे ॥”

—द्वि० अ० १२

अतः अर्त्ति तथा आर्त्ति शब्द समानार्थक के साथ-साथ समान-लिंगक और काव्यों में समान सम्मान के अधिकारी भी हैं, यह प्रमाणित हो गया। ‘प्रपञ्चात्तिच्छिदः’ इस समस्त पद के अन्त में जो ‘छिदः’ है, वह ‘छिद्’ (छिदिर् द्वैधीकरणे) धातु से ‘किप्’ प्रत्यय करने पर बना है। अर्त्ति छिन्दन्तीति अर्त्तिच्छिदः, प्रपञ्चानाम् अर्त्तिच्छिदः इति प्रपञ्चात्तिच्छिदः—यह उसकी व्युत्पत्ति होगी।

अब ध्वन्यालोक के निर्देश के अनुसार ही इन तीनों (‘प्रपञ्च’ ‘अर्त्ति’ तथा ‘छिदः’) की व्यञ्जकता देखनी चाहिए। ‘असंलक्ष्यक्रम’ के परम्परया व्यञ्जकों का उल्लेख किया गया है—

‘सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।

कृत्-तद्धित-समासैश्च धोत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥’

—ध्व० तृ० ७२

इस कारिका की विशद व्याख्या तो यथावसर प्रस्तुत की जायगी, यहाँ इसके अनुसार पूर्वोक्त ‘तीनों’ की व्यञ्जकता दरसाना मात्रा इष्ट है।

१—‘प्रपन्न’ कहने से यह व्यक्त होता है कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।—‘मामेकं शरणं व्रज’ के बाद ‘मोक्षयिष्यामि’ से अधिक की गुंजाइश ही कहाँ ?

२—‘अर्त्ति’ कहने से उसकी जल्दी-से-जल्दी उच्छेद्यता की व्यञ्जना होती है । रोग और रिपु को छोटा नहीं कहते । थोड़े-से विलम्ब से भी बड़े-से-बड़े अनर्थ की सम्भावना रहती है । और—

३—‘छिदः’ में किये गये ‘क्विप्’ प्रत्यय से यह ध्वनित होता है कि यदि वह (हिरण्यकशिपु) अर्त्ति है तो नाखून भी उसे उच्छिन्न करने के लिए सदा तत्पर हैं ।

५—‘नखाः’—नख सिंह के आयुध-विशेष हैं और चूँकि किसी आयुध (की सहायता) से रक्षा की जा सकती है, अतः वे ‘करण’ (कारक) हो सकते हैं, कर्त्ता नहीं । ‘त्राण’ क्रिया के प्रति उनका करणत्व ही हो सकता है, कर्त्तृत्व नहीं । अर्थात् नरहरि नाखूनों से त्राण करें, यही सम्भव है,—नरहरि के नाखून त्राण करें, ऐसा नहीं ।

करण भी दो प्रकार के होते हैं :—बाहरी और भीतरी । बाहरी करण तलवार आदि हैं और भीतरी हाथ आदि । स्पष्ट ही नाखून भीतरी करण हैं । फिर भी करण न कहकर जो उन्हें कर्त्ता (‘नखैः’ के स्थान पर ‘नखाः’ लिखकर) बनाया गया है इससे उनकी सातिशय शक्तिमत्ता व्यक्त होती है कि नरहरि के स्वयं नाखून ही अर्त्ति को छिन्न करते हुए लोक-कल्याण करने की इतनी अधिक क्षमता रखते हैं कि इसके लिए उन्हें किसी अन्य आयुध की सहायता की अपेक्षा नहीं ।

‘सातिशय शक्तिमत्ता’ से तात्पर्य नाखूनों के बेहद चोखेपन से है, जिस कारण आपन्न की ‘अर्त्ति’ का छेदन करने में उनकी अनोम्नी दक्षता हो सकती है । थोथे-भोथे नाखूनों से तो बदन के रोएँ भी नहीं खुजलाए जा सकते, अर्त्ति का उच्छेद भला क्या होगा ?

यह जो नाखूनों को ‘कर्त्ता’ बनाया गया है, ‘स्वतन्त्रः कर्त्ता’ के अनुसार कर्त्ता होने के कारण उनमें पूर्ववर्णित विशेषताओं के अतिरिक्त एक सर्वोपरि विशेषता मुझे यह प्रतीत होती है कि वे (नाखून) अर्त्ति का उच्छेद करने या ‘त्राण’ करने में स्वतन्त्र हैं—स्वयं इतने जागरूक हैं कि जैसे उन्हें नरहरि की प्रेरणा की आवश्यकता ही न हो !

६—‘नखाः’ में बहुवचन से यह ध्वनित होता है कि यों तो प्रत्येक नख में पूर्वोक्त तीक्ष्णता, दक्षता आदि गुण विद्यमान हैं कि जिस कारण वह अकेला भी शरण में आए हुए की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है; किन्तु यदि वह संख्या में भी बहुत हो तब तो फिर कहना ही क्या ? तब तो रक्षा करने में किसी प्रकार की ढिलाई हो ही नहीं सकती ।

७—‘वः’=तुम लोगों की, व्याख्याताओं और श्रोताओं या पाठकों की ।

८—‘त्रायन्ताम्’=रक्षा करें। यहाँ अभीष्ट की प्राप्ति के प्रति सहायक का कार्य करना ‘त्राण’ का विवक्षित अर्थ है और वैसा त्राण तभी सम्भव है जब अभीष्ट के विघातक विघ्नो को खदेड़ दिया जाय। कहने का तात्पर्य यह कि खल-निग्रहकारी नरहरि के नाखून (प्रस्तुत शास्त्र के बनाने और पढ़ने-पढ़ानेवालों के आड़े आने या मनसूबे ढहानेवाले) सारे विघ्नो को दूर भगावें; उन्हें वैसे-वैसी से बचावें। इस प्रकार यहाँ पर वीर रस ध्वनित होता है। क्योंकि आर्त्त-त्राण की उनकी ऐसी तत्परता यह प्रमाणित करती है कि वह ऐसे कार्य के लिए अद्भुत उत्साह रखते और अनवरत उद्योग भी करते रहते हैं। अतः भगवान् नरहरि में रहनेवाले उत्साह नामक स्थायी भाव की प्रधानता प्रतीत होने के कारण प्रस्तुत पद्य में अभिनव गुप्त के अनुसार वीर रस-ध्वनि है।

आचार्य्य अभिनव गुप्त ने ध्वनि-शास्त्र के श्रीगणेशवाले इस पद्य में ही, उपर्युक्त प्रकार से, ग्रन्थ भर में निरूपित होनेवाली त्रिरूप ध्वनियों (वस्तु-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि और रस-ध्वनि) को प्रतिष्ठित कर दिया है।

नवम्बर '५०

— — —

ध्वनि के स्वरूप-निरूपण के पूर्व

अनुबन्ध :—

‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ;
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ।’

जिस ध्वनि को विद्वज्जन काव्य की आत्मा कहते आए हैं, उसकी सत्ता तक कुछ लोगों को स्वीकार नहीं। कोई-कोई उसे भाक्त (गौण, लाक्षणिक) भर मानते हैं। और, कुछ लोग ऐसे भी हैं जो उसके ‘तत्त्व’ को वाणी से परे बतलाते हैं। अतः (इन सारे आक्षेपों का निराकरण कर) सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने के लिए ध्वनि का स्वरूप-निरूपण किया जा रहा है।

श्रोता या पाठक की प्रवृत्ति के अङ्ग चार अनुबन्ध माने जाते हैं :—

- (१) विषय
- (२) प्रयोजन
- (३) सम्बन्ध और
- (४) अधिकारी

ऐसे किसी शास्त्र को कोई क्यों पढ़ना चाहेगा जिसके प्रतिपाद्य विषय को वह बिलकुल ही न जानता हो। उस शास्त्र में किस विषय की चर्चा है, किस तत्त्व पर विचार किया गया है, इसका थोड़ा-बहुत भी ज्ञान न रहने पर कोई उसके अध्ययन के लिए क्यों कर उत्कण्ठित होगा ? उस शास्त्र-विशेष के प्रति उसकी क्योंकर प्रवृत्ति होगी ? इसलिए शास्त्रकार शास्त्र के आरम्भ में ही अपना वक्तव्य विषय बतला देते हैं। तदनुसार आचार्य आनन्दवर्द्धन भी अपने इस ध्वनिविषयक

प्राच्यसाहित्य

ग्रन्थ के आरम्भ में अपना वक्तव्य विषय बतला रहे हैं कि ध्वनि का स्वरूप-निरूपण ही इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

ऐसा ही ज्ञातव्य 'प्रयोजन' भी होता है। क्योंकि किसी शास्त्र का निर्माण तो महान् आयास से साथ है, कभी-कभी वह सम्पूर्ण जीवन का मूल्य लेकर प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में उसकी रचना निष्प्रयोजन कदापि नहीं हो सकती। कहावत है कि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—विना प्रयोजन के कोई मूढ़ व्यक्ति भी किसी कार्य के लिए प्रवृत्त नहीं होता। इसीलिए किसी ने कहा है :—

‘ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।

शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥’

प्रयोजन एवं सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही श्रोता शास्त्र-श्रवण के लिए प्रवृत्त होता है। अतः शास्त्र के आदि में इन्हें बता देना आवश्यक है। और इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन है—

विरोधियों के आक्षेपों की आलोचना करते हुए ध्वनि के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान।

वस्तुतः यह प्रयोजन पाठकों के अनुकूल हो सकता है। अर्थात् सारी विरोधी उक्ति-युक्तियों की विवेचना के साथ ध्वनि-तत्त्व का ज्ञान पाठकों का प्रयोजन हो सकता है; किन्तु निर्माता के पक्ष में इतना और जोड़ देना उचित होगा कि—

पूर्वोक्त वैज्ञानिक विवेचन द्वारा ध्वनि की वास्तविक स्थिति का पता बताकर सहृदयों के हृदय को आनन्दित करना ही इसके निर्माण का प्रयोजन है।

अथवा इसे उलटकर यों कहा जा सकता है कि यही प्रयोजन पाठकों के पक्ष का है। अर्थात् यदि वैज्ञानिक प्रणाली से, उदापोहपूर्वक ध्वनि-तत्त्व का ज्ञान पाठक प्राप्त करेंगे तो उन्हें अद्भुत आह्लाद प्राप्त होगा। अर्थात् ऐसे आनन्द की प्राप्ति के लिए ध्वनि-तत्त्व की साङ्गोपाङ्ग समीक्षा करना ही इस शास्त्र का प्रयोजन है।

तब शास्त्रकार के पक्ष में इसके प्रयोजन का स्वरूप होगा—विरोधियों के आक्षेपों का समाधान करते हुए ध्वनि की वास्तविकता का ज्ञान कराना।

ध्वनि के स्वरूप-निरूपण के पूर्व

इस प्रकार विषय, प्रयोजन आदि का सविस्तर विवेचन 'शास्त्र' का आवश्यक अङ्ग है। ऐसे अङ्गों की संख्या पाँच तक पहुँचती है और 'शास्त्र' को पञ्चाङ्गक माना गया है। अर्थात् इन पाँचों अङ्गों के प्राञ्जल विवेचन-विश्लेषण के बिना कोई भी शास्त्र नहीं निर्मित हो सकता। वे पाँचों अङ्ग हैं—

- (१) विषय
- (२) संशय
- (३) पूर्वपक्ष
- (४) उत्तरपक्ष और
- (५) निर्णय (निष्कर्ष, सिद्धान्त)।

कहा है कि—

‘विषयो विशयश्चेति पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ,
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ।’

ऊपर विषय और प्रयोजन का जैसा निर्देश किया जा चुका है— उन्हें तनिक लचीला या उदार बना देने पर ये पाँचों अङ्ग उन्हीं से गतार्थ हो जायेंगे। क्योंकि वस्तुतः ये पूर्व-प्रदर्शित प्रकार से विषय और प्रयोजन के ही विस्तार-प्रस्तार हैं। इसलिए ऐसा न समझना चाहिए कि इस ध्वनिशास्त्र में ये पाँचों अङ्ग नहीं हैं। प्रत्युत इन्हीं पाँचों अङ्गों की बुनियाद पर 'ध्वनि' का तिमझिला महल खड़ा हुआ है। अस्तु,

अनुबन्ध-चतुष्टय का तीसरा अनुबन्ध है—‘सम्बन्ध’। और, आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ शास्त्र तथा प्रयोजन के बीच 'साध्य-साधन-भाव' सम्बन्ध है।

सुस्पष्ट शब्दों में, पूर्व-निर्दिष्ट ध्वनि-तत्त्व का ज्ञान रूपी प्रयोजन साध्य और यह ध्वनि-शास्त्र उस वैसे प्रयोजन का साधन है। अर्थात् इस शास्त्र की सहायता से ही वैसा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए यह शास्त्र उस ज्ञान की उपलब्धि का साधन है और वह ज्ञान प्राप्त करना ही हमारे पठन-पाठन का प्रयोजन है, अतः ज्ञान (प्रयोजन) हमारा साध्य है। इस प्रकार उस ज्ञान और इस शास्त्र के बीच साध्य-साधनभाव सम्बन्ध उपपन्न होता है।

प्राच्यसाहित्य

अब रही बात अन्तिम अनुबन्ध—अधिकारी की। सो इसके निर्णय के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। संचेप में इसके अधिकारी वे सभी हो सकते हैं, जिन्हें पूर्वोक्त प्रकार के ज्ञान की लिप्सा हो।

शास्त्रकार की ओर भी इसका संकेत समझा जा सकता है कि वैसा ज्ञान-दान जिसके किए हो सकता है उसे ही इसका अधिकारी मानना उचित है। अवश्य इसे पृथक् समझने-समझाने की नौबत नहीं आती। कारण, वैसे अधिकारी विद्वान् ही शास्त्र-निर्माण की ओर अप्रसर होते और स्वयं वही अपने निर्मायमाण शास्त्र के आरम्भ में विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध तथा अधिकारी का सुस्पष्ट निर्देश कर देते हैं। शास्त्र-रचना का यही प्रशस्त एवं आदर्श पथ रहा है।

अनुबन्ध-विवेचन:—

इन अनुबन्धों की कल्पना मुझे बड़ी ही सूक्ष्म प्रतीत होती है। यहाँ उसी सूक्ष्मता को संकेतित करने के लिए दो शब्द प्रायोजित किये जा रहे हैं।

आरम्भ में ही यह कह लूँ कि पाठकों की प्रोचना से भी अधिक मुझे इससे निर्माता की योग्यता का परिचय प्राप्त होता है। अर्थात् पुस्तक के प्रारम्भ में इन चारों अनुबन्धों का स्पष्टीकरण हो जाने से जहाँ पाठक के लिए उस (पुस्तक) में अबाध प्रवेश का द्वार उद्घाटित हो जाता है वहाँ उसके निर्माता की योग्यता की पूर्वपीठिका भी तैयार हो जाती है। प्रबन्ध का आरम्भ होते-न-होते इन बातों का विवेचन यह सिद्ध कर देता है कि उसका रचयिता अपने तर्क कितना सुलभ हुआ और कितना सन्तुलित है। उसके ज्ञान की गहराई का पता तो 'विषय' ही दे देता है और 'प्रयोजन' का विवेचन उस (ज्ञान) की प्रयोगोन्मुखता या Communicative होने का। अर्थात् विषय की गरिमा ही उसके ज्ञान की इयत्ता को नहीं सूचित करती, प्रत्युत प्रयोजन के विवेचन करने की उसकी प्रौढ़-प्राञ्जल प्रणाली थी कि वह दुरुहता को छूकर या छेड़कर ही नहीं छोड़ देता, उसे गंगाजल-सा स्थच्छ या दर्पण-सा पारदर्शी तक बना डालने की क्षमता रखता है। निश्चय ही मेरी यह उक्ति किसी आदर्श लेखक की आदर्श लेखन-प्रणाली पर ही

ध्वनि के स्वरूप-निरूपण के पूर्व

चरितार्थ होगी; किन्तु विवेच्य आचार्य आनन्दबर्द्धन तो आदर्शों के भी आदर्श हैं। उन्होंने एक ही पद्य में विषय और प्रयोजन की ऐसी वैज्ञानिक अवतारणा की है कि उनके इस विषय के एकमात्र अधिकारी होने की बात हृदय में आप पैठ जाती है। ऐसे ही, आकाश का कुहरा हटने और नीलिमा के निखर उठने पर अधिकारी पंछी को भी उड़ान भरने के लिए पर तोलने का अवसर मिल जाता है। लेखक और पाठक दोनों अपने-अपने अधिकार को आरम्भ में ही समझ-समझाकर आगे पैर बढ़ाते हैं।

अधिकारी का निर्णय न हो लेने से दड़ी अस्त-व्यस्तता आ जाती है, इसे हम आज दिन अनुक्षण प्रत्यक्ष कर रहे हैं। कृष्ण ऐसे ज्ञानी और राजनैतिक महापुरुष ने भी गीता के ज्ञान के अधिकारियों की ओर स्पष्ट इंगित ही नहीं किया, अनधिकारियों से उसे बचाए रखने तक की शिक्षा भी दे डाली है—

‘इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुभ्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥’

इस ध्वनि-शास्त्र में प्रवेश पाने का इच्छुक मात्र, यों तो अधिकारी कहा जायगा, परन्तु वस्तुस्थिति कदाचित् ऐसी न होगी। इसे उचित रूप में ग्रहण करने और सही जगह पर रख कर निरखने-परखने के लिए जिस पूर्वाग्रह-रहित वैज्ञानिक मनीषा एवं इसके उपस्कारक शास्त्रान्तर के निष्कलुष सहयोग की अपेक्षा है उसे एक छोर पर छोड़ कर इस ओर उत्सुकता दरसाने का कोई उदात्त अर्थ नहीं हो सकता। कारण, ध्वनि का ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान नहीं है, पङ्क से पङ्कज की भाँति अपने ऊर्ध्वमुख विकास के सिलसिले में वह भले ही आवेष्टनों से ऊपर उठा प्रतीत होता हो। और ज्ञान को, उसके विशुद्धतम रूप में, उपलब्ध कर लेने से बढ़कर कोई भी लब्धि किसी शास्त्र-विशेष के माध्यम से तो नहीं ही सम्भव है।

प्रवृत्ति-प्रयोजक ज्ञान की विषयता को ‘अनुबन्धत्व’ कहते हैं। और उस (प्रवृत्ति) के प्रयोजक ज्ञान का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है:—
‘यह मेरे दृष्ट का साधन है और मेरी कृति से साध्य भी है।’ ❀

* इदमदिष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यम् ।

प्राच्यसाहित्य

यहाँ 'यह' का अर्थ 'विषय', 'मेरे' का 'अधिकारी', 'इष्ट' का 'प्रयोजन' और 'साधन' का 'साध्य-साधनभाव-सम्बन्ध' समझना चाहिए। इस प्रकार अनुबन्ध प्रवृत्ति (शास्त्र-विशेष की ओर मानसिक झुकाव) के प्रयोजक (वैसी रुझान के प्रेरक या उत्तेजक) ज्ञान का विषय ठहरता है; क्योंकि विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध तथा अधिकारी के निर्देश से शास्त्र-विशेष की ओर उन्मुखता होती है। ध्वनिशास्त्र का विषय ध्वनि का स्वरूप-निरूपण, प्रयोजन वैज्ञानिक समीक्षा द्वारा ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान, सम्बन्ध साध्य-साधनभाव और अधिकारी जागरूक जिज्ञासु है, इसका सांकेतिक निर्देश, उपर्युक्त प्रणाली से, कारिका (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति) में है।

कवि शब्द से ज्यञ् प्रत्यय करने पर 'काव्यं' बनता है। 'कवते (सर्वं जानाति वर्णयति वा) इति कविः, तस्य कर्म काव्यम्'—यही उसकी व्युत्पत्ति है। ❀ कवि शब्द का प्रयोग जगत्स्रष्टा से लेकर शब्द-शिल्पी तक के लिए होता आया है और काव्य का उसके रचना-विशेष के लिए।

अभिनवगुप्त ने 'कवनीयं काव्यम्' लिखा है। मम्मट भट्ट ने बताया है कि काव्य 'लोकोत्तरवर्णना-निपुण-कवि-कर्म' है। विद्याधर के अनुसार 'कवयति इति कविः, तस्य कर्म काव्यम्' है और भट्ट गोपाल की व्युत्पत्ति के अनुसार—'कौति = शब्दायते, विमृशति रसभावानीति कविः तस्य कर्म काव्यम्' है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि—'क्रियाओं के अनेक अर्थ होते हैं—'धातूनामनेकार्थः'—व्याकरण-शास्त्र के इसी सिद्धान्त के अनुसार गत्यर्थक, वर्णार्थक अथवा शब्दार्थक 'कु' धातु से कवि शब्द सिद्ध किया गया है और उसके मनमाने अर्थ भी

❀ 'प्रतिभाशक्तिसम्पन्नो लोकवेदविचक्षणः।

देवलब्धप्रसादाढ्यः कविरित्यभिधीयते ॥' यह सूक्ति भी भामह के

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः ॥

तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।' इसी निर्वचन पर अबलम्बित प्रतीत होती है।

—ले०

गढ़े गए हैं। शब्दार्थक 'कु' धातु से जिस खींच-तान के साथ कवि बनाने की प्रथा प्रचलित है, मैं अपनी ओर से उससे असहमत हूँ। मैंने ऋग्वेद में मेघ के विशेषण के रूप में कवि शब्द का प्रयोग देखा है, निश्चय ही वहाँ उसका अर्थ गरजता-गड़गड़ाता हुआ ही हो सकता है। इस प्रकार अन्ततो गत्वा 'कवि' का शब्दकार अर्थ लाक्षणिक रूप में ही आज दिन व्यवहृत होता देखा जाता है, जब कि अभिधा की भी पूरी-पूरी गुंजाइश रही आती है। वैसे गौणी लक्षणा से शब्द-सादृश्य-कल्पना बेढंगी नहीं। अस्तु,

शब्द-सिद्धि के विविधार्थक प्रकारों की ही भांति 'काव्य' की परिभाषाएँ भी अनेकानेक सिरजी जाती रही हैं, यहाँ उन सबकी चर्चा अप्रस्तुत है। हाँ, आचार्य आनन्दवर्द्धन के समक्ष जो साँचे बने-बनाये हुए विद्यमान थे और ध्वन्यालोक में आगे चलकर जिनपर थोड़ा-बहुत विचार किया गया है उनसे संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना असंगत न होगा।

आनन्दवर्द्धन से पहले (अग्निपुराण को समय-सन्दिग्धता के कारण छोड़ देने पर भी) भरत के अतिरिक्त कम-से-कम पाँच महान् आलंकारिक हो चुके थे—

- (१) भामह
- (२) दण्डी
- (३) उद्भट
- (४) वामन और
- (५) रुद्रट।

क्रमशः उनके ग्रन्थों के नाम हैं—

- (१) काव्यालंकार
- (२) काव्यादर्श
- (३) काव्यालंकारसंग्रह
- (४) काव्यालंकार (सूत्र), कविप्रिया (वृत्ति) और
- (५) काव्यालंकार।

† 'अन्यद्भि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यत्प्रवृत्तिनिमित्तम्' यह व्याकरण की ही मान्यता है तभी चेष्टार्थक षट् धातु से षट् शब्द बनता है, किन्तु उसका व्यवहार षडे के अर्थ में होता है।

—ले०

(१) भामह के 'काव्यालंकार' में काव्य का लक्षण है—

‘शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।’

अर्थात् ‘सहित’ शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। यों इस ‘सहित’ शब्द का अर्थ ‘सम्मिलित’ या ‘साथ-साथ’ होता है पर यहाँ उसका तात्पर्य कुछ और ही है। उस तात्पर्य के अनुसंधान के लिए ‘अग्निपुराण’ से ‘वक्रोक्तिजीवित’ तक विहङ्गम दृष्टि डालनी होगी। ‘अग्निपुराण’ का वचन है—

‘शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ।

अभिधायः प्रधानत्वात्, काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥’

—३१७।२३

यहाँ जिन युक्ति-युक्त शब्दों में शास्त्र एवं इतिहास से काव्य का व्यक्तित्व पृथक् निर्दिष्ट हुआ है—आगे चलकर ध्वनि-विवेचन के क्रम में वह सहायक सिद्ध होंगे।

वेदादि शास्त्रों में शब्दों की प्रधानता रहती है। अर्थात् ‘अग्निमीले पुरोहितम्’—यही वेद समझा जाता है, इसके स्थान पर यदि मैं स्व-रचित संस्कृत में—‘वह्निं वन्दे पुरःस्थितम्’ कहूँ तो अर्थ-साम्य होने पर भी इसे कोई वेद-मन्त्र न मानेगा। क्योंकि जिन शब्दों में बंधा, उन्हें इतना सम्मान, मेरे विवेक के अनुसार भी, मिलना ही चाहिए। ऐसा न होता तो अपने साम्प्रदायिक व्याख्याताओं की अनुकम्पा से आज वेद कहाँ से कहाँ पहुँच गए होते। तो, ऋषियों से साक्षात्कृत शब्द ही वेद हैं, उन्हीं में शक्ति है।

इतिहास-पुराणों की बात दूसरी है। वहाँ तो ‘च, वै, तु, हि’—ऐसे निरर्थक शब्दों की भरमार रहती है। पर उससे अर्थ में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आती। कारण वहाँ शब्द-शिल्प तो क्या, प्रयुक्त शब्दों के तद्रूप ग्रहण तक से निर्माता को कोई व्यामोह-मिश्रित लगाव नहीं होता—उसका सम्पूर्ण आग्रह तथ्य या मैटर की ओर रहता है। शब्द-परिवर्तन से वेद की भाँति मन्त्रत्व खण्डित होने की तो आशंका रहती नहीं, चमत्कारकारी शब्दों की रचना भी अनपेक्षित रहती है, फिर ले-देकर ‘इतिवृत्तमात्र’ का निर्वाह ही उसका अन्तिम प्रयोजन रह जाता। द्विवेदी-युग की बात तो चल निकली है, वस्तुतः हिन्दी

में इतिवृत्त या मैटर लिखनेवाले 'पौराणिक' कवियों की एक परम्परा ही चलती चली आ रही है। परन्तु ठीक इसके विपरीत (वास्तविक) काव्य में होता है। यहाँ शब्द और अर्थ—दोनों की बहुमूल्यता अपेक्षित रहती है।—'न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र योगात्।'।

काव्य में केवल अर्थ-प्रतीति के लिए जैसे-तैसे शब्द नहीं प्रयुक्त होते, यहाँ तो दोनों की तुल्यकक्षता आवश्यक है। एक शब्द खिसका नहीं कि अर्थ की इमारत नींव से हिली। तभी राजशेखर ने 'साहित्य', की परिभाषा गढ़ते हुए लिखा—'शब्दार्थयोर्यथावत् सह भावेन विद्या साहित्यविद्या।' अन्योऽन्य-स्पर्द्धा—परस्पर, एक दूसरे की सुन्दरता बढ़ाते हुए, शब्द और अर्थ के सहभाव से जो विद्या बनी है, वही साहित्यविद्या है।

मेरे विचार से भामह के ही काव्य-लक्षण (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) का विस्तार मम्मट ने—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि' लिखकर किया है। इतना ही नहीं, आगे चलकर जो दोष, गुण, अलंकार आदि का शब्दगन, अर्थगत विभाजन के साथ विवेचन किया गया, मेरे विचार से, भामह का उपर्युक्त लक्षण ही उस लता-वितान का बीज है। कारण दोनों (शब्द और अर्थ) के पृथक्-पृथक् विवेचन के बिना, दोनों के व्यक्तित्व का निखार नहीं होता और बिना निखार के—'सहितौ शब्दार्थौ' का स्वारस्य नहीं समझ में आ सकता। जो हो, कुन्तक ने तो स्पष्ट ही, अपने ढंग से, भामह को दुहराया है—

‘शब्दार्थौ सहितौ वक्रविव्यापारशालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥’

—‘तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम् ।

उसने स्वयं शङ्का उपस्थित की है कि जब शब्द और अर्थ में परस्पर वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध विद्यमान है तब तो दोनों का 'साहित्य' (सहित का भाव या साथ-साथ रहना) स्वतःसिद्ध होगा ही—फिर वलपूर्वक 'शब्दार्थौ सहितौ' कहने का भला क्या प्रयोजन हो सकता है ? और इस शङ्का का समाधान भी उसने अति प्राञ्जल भाषा में ही कर

प्राच्यसाहित्य

दिया है कि वह वैसा (निरुच्यमान) 'साहित्य' वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध मात्र के कारण नहीं होता । वह इतना सस्ता या आसान नहीं । वैसा विशिष्ट 'साहित्य' तभी होता है जब शब्द और अर्थ समान-रूप-गुण-शाली दो सुहृदों की भाँति परस्पर की शोभा के लिए जुड़ते हैं—

‘सम-सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।

परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥’

मैं समझता हूँ, शब्द और अर्थ के ऐसे विशिष्ट 'साहित्य' के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता और प्रयोक्ता कवि-कुल-गुरु कालिदास ही हुए हैं । 'वागर्थविषय सम्प्रुक्तौ' लिखकर उन्होंने अपनी उसी अद्वितीय मर्मज्ञता की ओर संकेत किया है । उनके पार्वती और परमेश्वर वाक् और अर्थ की भाँति सम्प्रुक्त हैं—परस्पर की शोभा बढ़ाते हुए सम्मिलित हैं;—यह उपमा उन्हीं की काव्य-कला की ओर अति सूक्ष्म संकेत करती है । यहाँ एक उदाहरण द्वारा शब्द और अर्थ की इस अन्योन्य-शोभा-जनकता को उपवृंहित करता हूँ—

‘वपुर्विरूपाक्षमलचयजन्मता

दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते

तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ?’

बटु-वेश-धारी स्वयं शङ्कर ही पार्वती के भाव परखने के लिए 'शङ्कर' की बुराई कर रहे हैं कि कहाँ तुम और कहाँ वह ! उससे व्याह्र करने के लिए यह ऐसा कठिन हठयोग !

सुनाता हूँ, वर का चुनाव लड़की रूप पर रीझ कर करती है, यदि यह सच है तो फिर राम भजो ! विरूपाक्ष है, उसकी सुन्दरता का अनुमान इसी से कर लो ।

लड़की के स्वजन-परिजन कुलीन वर ढूँढ़ते हैं; शङ्कर की कुलीनता तो बस इसी से समझ लो कि किसी को भी उसके माता-पिता का पता नहीं !

माँ सम्पन्न वर चाहती है, तो मैं उसकी सम्पन्नता-विपन्नता के विषय में अधिक क्या कुछ कहूँ,—नङ्गा रहता है, इस सम्बन्ध में इतना-सा परिचय ही पर्याप्त समझा जाना चाहिए ।

अट्टाईस

इसलिए मैं तुम्हीं से पूछता हूँ—अरी ओ हिरने की छोने की-सी मासूम आँखोंवाली, सच बताना,—लोग वर में जो कुछ देखना चाहते हैं—उस तीन आँखवाले में उसमें से एक भी है क्या ?

इस काव्य की पूरी विवेचना यहाँ अनावश्यक होगी। 'विरूपाक्ष' शब्द के नाद से कैसी भीषण कुरूपता भलकती है और ऐसे ही प्रत्येक शब्द अपने अर्थ की सामर्थ्य के साथ किस चुस्ती से जड़ा है, सहृदय जन स्वयं मनन कर लेंगे। बालमृगाक्षी और त्रिलोचन का विप्रतिपेध (Contrast) तो स्फटिक-सा पारदर्शी है। शब्द और अर्थ का यही साहित्य है। भामह के अनुसार यही 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' है।

(२) दण्डी ने 'काव्यादर्श' में प्रतिज्ञा-वचन के रूप में पूर्ववर्ती शास्त्रों (भरत के नाट्यशास्त्र आदि) के मनन और (कालिदासादि के काव्यों में) उसके प्रयोग (Application) को भलीभाँति परख लेने के पश्चात् 'यथा-सामर्थ्य' काव्य की जो परिभाषा पड़ी है, 'अग्निपुराण में भी वह ठीक वैसी ही है, कुछ लोग उसे 'अग्निपुराण' से ली हुई ही मानते हैं। वह यह है—

'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।' अर्थात् इष्ट अर्थ या अर्थों से व्यवच्छिन्न पदावली को काव्य कहते हैं। (इष्टाः मनोहराः; रसाद्यनुगतत्वेन परमरमणीयाः, ये अर्थाः = वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः, तैः = अर्थैः, व्यवच्छिन्ना = चमत्कारकारिणी, पदानां = सुवन्तानां, तिङन्तानाञ्च, आवली = पंक्तिः) = मनोहर, रसादि से अनुगत होने के कारण परम रमणीय, वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्य-रूप त्रिविध अर्थों से चमत्कार उत्पन्न करनेवाली पदावली काव्य कहलाती है।

काव्य के इस लक्षण पर सूक्ष्मता से विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती आलङ्कारिक विश्वनाथ ने भामह के शब्द-अर्थवाले, मम्मट भट्ट से अनुमोदित, लक्षण से आगे बढ़कर जो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहा, उसे 'वाक्य' कहने की प्रेरणा दण्डी के इसी 'पदावली' से मिली है, क्योंकि 'पद-समूहो वाक्यम्' को सभी जानते हैं। यों नैयायिकों की सूक्त के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पद-समूह को वाक्य मानने की बात तो विश्वनाथ और दण्डी—दोनों में समानरूप से लागू होगी।

प्राच्यसाहित्य

ऐसे ही पण्डितराज ने भी रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' में 'रमणीयार्थप्रतिपादक.' विशेषण की कल्पना' 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना' से ही प्राप्त की है,—मेरी यही धारणा है। चटपटी व्याख्या से कुछ नहीं आता-जाता। पण्डितराज रमणीयता को 'लोकोत्तराह्लाद-जनक-ज्ञान-गोचरता' कह सकते हैं और उपर्युक्त रीति से 'इष्टाः' का अर्थ 'रसाद्य-नुगतत्वेन परमरमणीयाः' भी हो सकता है।

परन्तु, मुझे तो साहस के साथ यहाँ यह कहना है कि 'इष्ट' का यह अर्थ दण्डी को कदापि इष्ट न था। और न 'अर्थ' का अर्थ उन्होंने त्रिविध (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) माना था। मेरी इस मान्यता को प्रमाणित करने के लिए उनके 'काव्यादर्श' के पृष्ठ सतत खुले हैं, जिसमें उन्होंने यों ही (By the way) जहाँ-तहाँ रस को छूकर छोड़ दिया है। भामह की ही भाँति दण्डी ने भी रस को उसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ नहीं देखा था। ये दोनों निर्दोष और सालङ्कार शब्दाथ अथवा पदावली को ही काव्य कहते थे।

दण्डी ने 'रसवत् रसपेशलम्' लक्षण के साथ आरम्भकर 'रसवत्' अलंकार के निरूपण के सिलसिले में ही ऐसी-वैसी रस-चर्चा कर दी है और—'इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्' से उपसंहार भी। कारण, उनके विचार से प्रत्येक अलंकार अर्थ में रस का निवेक करता है—'कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।' यह ठीक हो चाहे न हो, परन्तु जहाँ अलंकार न होकर 'रस' होता है, उस कविता की कसौटी फिर क्या होगी? परवर्त्ती विवेचकों ने तो उसे ही सर्वश्रेष्ठ माना है। भवभूति के—

‘किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-

दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।

अशिथिलपरिरम्भव्याधृतैकैकदोष्यो-

रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ।' में कौन-सा अलंकार है ?

क्या यह अन्तर के तारों को चम्पक-अङ्गुलि से कम्पितकर आत्मा के

१—‘पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च ।

यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ।’—प्र० प० २

अवकाश को स्वरों से भर देनेवाली कविता अनुप्रास के सहारे टिकी कही जा सकती है ?

इसी 'किमपि-किमपि जल्पतोरक्रमेण' को महाकवि सूरदास जब रसान्तर में परिणत कर प्राणों को पागल कर देनेवाली भाषा का माध्यम देते हैं—

‘जसोदा हरि पालनै सुखावै

हजारावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै ।’

तो इस ‘जोइ-सोइ कछु गावै’ के मगन ‘बेसुधपन’ को ‘स्वभावोक्ति अलंकार’ मान लेने भर से किस सहृदय का जी जुड़ाता होगा, कौन कहे ! निर्दोषता के लिए दण्डी का विशेष आप्रह है । उनके विमर्श के अनुसार छोटे-से-छोटे दोष की भी उपेक्षा न की जानी चाहिए ।^१ मैं समझता हूँ, कवि-कुल-गुरु कालिदास की—

‘एको हि दोषो गुण-सन्निपाते

निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।’

अथवा

‘इयमधिकमनोज्ञा वत्कलेनापि तन्वी

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।’

—ऐसी उदारता के वह कायल न थे । न हों, उनकी ‘दोषज्ञता’ बनी रहे; किन्तु मेरी भावैक-रसता तो ‘समाप्नोतु पुनरात्तत्त्व’ तथा क्रम-भङ्ग के रहते हुए भी—

‘आविभूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रि-

नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना

गंगा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥’

को विश्व-साहित्य के श्रेष्ठतम काव्यखण्डों में ही निहारती है । और जब भी उसे उनकी चुनौती—

‘गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः ।

किमधस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ?’

१—‘तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।

स्याद् वपुः सुन्दरमपि शिवत्रैलोक्येन दुर्भगम् ॥’ प्र० प० ७

प्राच्यसाहित्य

आँख मूँदकर स्वीकार है कि 'सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि-विकार।' दोष-दर्शनवाले संकुचित वातायन को बन्द कर सौन्दर्य के उन्मुक्त द्वार से उपर्युक्त काव्य के महान् ऐश्वर्य पर दृष्टिपात करना कदाचित् अनुचित औदार्य न होगा।

‘विक्रमोर्वशीय’ त्रोटक में राजा (पुरूरवा) चित्रलेखा से कह रहा है कि—

हौले-हौले होश में आती हुई यह रूपसी उर्वशी कुछ-कुछ ऐसी दीख रही है जैसे चाँद के उगते न उगते, चुपके-चुपके, पीछे की ओर खिसकते-सरकते जाते घुप अँधेरे में से, नए सिरे से, रात कढ़ती-बढ़ती आ रही हो; या रात के निसर्ग-अवदात गात से गहरे अँधियारे के अवगुण्ठन को चन्दा ने चोरी-चोरी हटा दिया हो; या चाँद के निकल आने पर अन्धकार रात को विह्वल बेबसी से छोड़े दे रहा हो; या चाँद के सामने आ जाने पर रात आप ही अँधेरे से छुटकारा पाती जाती हो !

अथवा, चहुँ ओर छाए-छितराए धुएँ के छँट जाने पर जैसे रात की (दिन की नहीं, दिन में वैसी चमक कहाँ ?) आग की लपट लहक उठी हो; या रात के समय सुलगाई हुई आग की लुनाई-सी लौ जैसे आस-पास के अवकाश को छुपाए हुए धुएँ को तितर-बितर कर आप ही उभार पर, निखार पर आ रही हो !

किंवा, चञ्चल लहरों के हिलकोरों से ढहते-बहते कूल-किनारे से रह-रहकर गदली हो जानेवाली गङ्गा की धारा जैसे क्रम-क्रम से धीरे-धीरे, नवल-निर्मल होती आ रही हो !

इस पद्य में ‘रिच्यमाना’ या ‘मुच्यमाना’ के ‘शानच्’ प्रत्यय में जो व्यञ्जकता है वह द्वितीय चरण में ‘छिन्न’ के ‘क्त’ प्रत्यय से प्रयुक्त ‘क्रम-भङ्ग’ या तृतीय चरण में वाक्य समाप्त हो जाने पर चतुर्थ चरण में पुनः एक उपमा देने के कारण होनेवाली ‘समाप्तपुनरात्तता’ अथवा ‘गच्छतीव’ में (‘गृह्णीव’ पाठ-भेद से समाप्त हो जानेवाली) ‘च्युतसंस्कृति’ से अधिक चमत्कारिणी है या नहीं, सहृदय जन स्वतः समझ लेंगे। विशेषकर चतुर्थ चरणवाली उन्मादक उपमा कवि की प्रतिभा को अधिक स्फुट

करती है या अलङ्कार प्रयुक्त करने के व्यसनमात्र को, यह भी विमर्श योग्य है। फिर 'ध्वन्यालोक' के अनुसार—

‘अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।

यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स ऋट्यवभासते ॥’

मानना ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वह कालिदास की अलौकिक प्रतिभा (शक्ति) ही है जो इन दोषों पर आँखें नहीं टिकाने देती। क्योंकि ‘नीरसस्तु प्रवन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः’ से बड़ी बात नहीं कही जा सकती और कालिदास की रसवत्ता पर कुछ कहना पुनरुक्तिमात्र है।

यों मेरी मान्यता तो इससे भी न्यायी है। मैं इस प्रकार के प्रयोगों को कालिदास की अव्युत्पत्ति मानने से रहा। कालिदास की अव्युत्पत्ति तो यह तब कहलाती जब उनके समस्त ऐसे किन्हीं काव्य-दोषों का विवेचन हो चुका होता। भामह, दण्डी पैदा हो चुके होते और निर्दोषता काव्य की कसौटी बन चुकी होती। फिर आगे की पीढ़ियाँ शिक्षा या (समय-समय पर बदलती रहनेवाली) रुचि के विभेद दरसाती हुई जो स्थापनाएँ करनेवाली हों उन्हें न मानना अव्युत्पत्ति नहीं।

(३) उद्धट का ग्रन्थ सम्पूर्ण, साङ्गोपाङ्ग न होकर किसी विलुप्त विशाल आलङ्कारिक विवरण (भामह-विवरण ?) का एक बहुमूल्य अंश-सा प्रतीत होता है, इसलिए इसमें काव्य-लक्षण आदि विषय एक बार ही नहीं हैं। न होने पर भी इतना असन्दिग्धतया निश्चित है कि वह (उद्धट) सालंकार शब्दार्थ का ही काव्य मानते थे। अलंकारों के प्रथम विशिष्ट विवेचक के रूप में वह (ध्वनिशास्त्र के प्रणेता) आनन्दवर्द्धन और (व्याख्याता) अभिनवगुप्त द्वारा अनेकशः समाहृत एवं उद्धृत हुए हैं। इसी गौरव के कारण यहाँ उनकी चर्चा अनिवार्य प्रतीत हुई।

उन्होंने भी भामह और दण्डी की भाँति ‘रसवत्’, ‘प्रेयस्वत्’ आदि अलंकारों में ही ‘रस’, ‘भाव’ आदि का अन्तर्भाव कर दिया है, अवश्य लक्षण-निर्माण में उन्होंने भामह से अधिक स्पष्टता दर्साई

प्राच्यसाहित्य

है। जहाँ 'प्रेयोऽलंकार' के सम्बन्ध में भामह लक्ष्यमात्र निर्दिष्ट कर लक्षण की उहा कर लेने का भार स्वाध्यायियों पर ही छोड़ देते हैं:—

‘प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा ।

अद्य या मम गोविन्द जाता स्वयि गृहागते ॥

कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ।’

—तृ० २५

वहाँ उद्धट ने उसे यथासम्भव (ऐसा इसलिए कि उनका 'रत्यादिकानाम्' भी वृत्ति-सापेक्ष ही रह गया है । अर्थात् प्रेयोऽलंकार में उन्हें देवता, गुरु, नृपादिविषयक 'रति' ही अभीष्ट है और कान्ता-विषयक रति की सूचना मिलने पर तो 'रसवत्' अलंकार हो जाता है ।) सँवार कर कहा है—

‘रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचने ।

यत् काव्यं बध्यते सन्निस्तप्येस्वदुदाहृतम् ॥’

—च० २

ऐसे ही रसवत् के लिए भामह कहते हैं—

‘रसवद् दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं’

और उद्धट उसे तनिक और खोल देते हैं—

‘रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम् ।

स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ॥

शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः ।

बीभर्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥’

—च० ४।५

इस प्रकार भामह ने छह परिच्छेदोंवाले अपने ग्रंथ में जहाँ अलंकारों के अतिरिक्त काव्य-कलासम्बन्धी अनेकानेक विषयों पर उल्लेख-योग्य बहुत-कुछ कहा है, वहाँ छह वर्गों के अपने ग्रंथ में केवल अलंकारों पर ही लिखते हुए उद्धट ने अपने वक्तव्य-विषय को विवेक-रश्मियों से भली-भाँति बाँधने का कौशल सोत्साह दर्साया है। स्पष्ट है कि अलंकारों के विवेचन में वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—भामह और दण्डी से आगे निकल गए हैं।

एक बात विशेष रूप से लक्ष्य करने की यह भी है कि पूर्वोक्त तीनों ही आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथ में लक्ष्य-लक्षण—दोनों अपने ही बनाये हुए दिए हैं और बहुत आगे चल कर पण्डितराज ने अपने 'रस-गंगाधर' की प्रस्तावना में जो—

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं

काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।

किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः

कस्तुरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥'

लिखा है, वह आदिम आलंकारिक आचार्य्य भामह की इसी उक्ति—

'स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं

मया प्रकृत्या खलु वागलंकृतिः ।'

का अनुवादमात्र है। मैं उसे न उनकी गर्वोक्ति मानता हूँ और न स्वोपज्ञ उद्भावना ही। संस्कृत के अधिकांश आलंकारिकों ने ऐसा ही किया है और हिन्दी के रीतियुग की तो वह भित्ति ही रही है। अस्तु, कितने विस्मय की बात है कि उद्भट के समान उद्भट आलंकारिक—नव रसों से परिचित ही नहीं, उनका अलंकार-विशेष में अन्तर्भाव करने का अभिलाषी होकर भी उनकी (नव रसों की) विविक्त-विषयता या स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकृत कर सके। अलंकारों के मा'यम से जिस 'रस' को उद्भट व्यक्त करना चाहते थे, वह पहले किसी स्थिति-विशेष में 'रस' की संज्ञा प्राप्त कर चुका था, यह तो उनकी प्रक्रिया से भी स्फुट है फिर भामह और दण्डी, वामन और रुद्रट की भाँति उनका ध्यान भी इस ओर क्यों नहीं गया ? यदि कहें, नाट्य-पक्ष के लिए उसे छोड़ दिया होगा† तो—

† क्योंकि भरत से एक डग आगे बढ़कर इन्होंने नवरसों का उल्लेख तो किया है; किन्तु 'नव नाट्ये रसाः स्मृताः' लिखकर 'नाट्य' में ही उनका स्थान निर्दिष्ट कर दिया है।

फिर 'रसवत्' की परिभाषावाले श्लोक में भी—'अभिनयास्पदम्' का प्रयोग कुछ उसी ओर इंगित करता जान पड़ता है।

इतने पर भी एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि प्रेयस्वत् तथा रसवत् के लक्षण उन्होंने चाहे जैसे बनाए हों, पर उनके अपने ही बनाए

‘ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।

रसत्वं केन वा तेषाम् ?

भावाश्चैव हि ये प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्ति हि ?’

—नाट्य० अ० ६, २।३

इन प्रश्नों का समाधान किए बिना रस-विषय का निर्धारण ही किस प्रकार होगा ? और रस-विषय के निर्धारण के बिना ‘रसवत्’ अलंकार की कल्पना कैसे की जा सकती है, प्रत्युत ‘प्रेयस्वत्’ का लक्षण लक्षित करते हुए उसका भी स्पष्ट निर्देश किया है—

‘रसवद्वर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम् ।

स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥’

—का० सा०, सं० ४।४

हुए लक्ष्य—नाट्य के न होकर श्रव्य काव्य के ही है और (इयं च सुतवाक्लभ्यात्) कालिदास के—

‘एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥’

का अनुकरणमात्र है ।

उनके उदाहरण को ध्यानपूर्वक देखने पर—‘अभिनयास्पदम्’ का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है* और यदि वैसी ही अभिनेयता उन्हें अभीष्ट हो तो वह निश्चयपूर्वक रसों के विनियोग के लिए ‘नाट्य’ के आप्रही न सिद्ध होंगे ।

उनके उदाहरण—

‘इयं च सुतवाक्लभ्यान्निर्विशेषस्पृहावती ।

उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेमं क्रोड आत्मनः ॥’

—में हिरने के छौने को गोद में रखना आङ्गिक अभिनय का विषय है और उसे मलहाना वाचिक अभिनय का । हिरने का छौना आलम्बन विभाव है, स्नेह-भरी उत्सुकता संचारी है और इन चारों से प्रीत्यात्मक ‘रति’ स्थायी भाव सूचित हो रहा है ।

कालिदासवाले पद्य में भी सिर झुकाना, पंखड़ियों गिनना आदि अनुभाव अभिनेय ही हैं; और यह ऐसी अभिनेयता ही यदि ‘नाट्य’ रूप में गृहीत हो तब तो ‘श्रव्य काव्य’ में इसकी सर्वत्र गुञ्जाइश है, फिर ‘नव नाट्ये रसाः स्मृताः’ कहने का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं रह जाता ।

और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस प्रक्रिया में वह भामह और दण्डी से अधिक सुलभे हुए हैं।

उद्भट के दो सुप्रसिद्ध व्याख्याताओं—प्रतीहारन्दुराज और राजानक तिलक—ने 'प्रेयस्वत्' अलङ्कार के विवेचन के सिलसिले में 'भावों' के विषय में मत-भेद प्रकट किए हैं। प्रतीहारन्दुराज ने स्थायि-

उद्भट का स्वयं का उदाहरण उनके श्रव्य काव्य से ही है, अतः उनका 'नाट्य' से अवश्य अपर तात्पर्य ही होगा, जिसकी परम्परा भरत से चली आ रही थी।

कालिदास ने भी 'लज्जा' (सञ्चारी) को स्व (लज्जा)—शब्द से ही न कहकर देवर्षि के कहने और पिता के पास रहने (रूपी विभावों) से और सिर नीचाकर लीला कमल की पंखड़ियों को गिनती (—रूपी अनुभावों) से व्यक्त किया है। यहाँ दोनों उदाहरणों में विशेष अन्तर नहीं है। 'रसवत्' का उदाहरण कालिदास के अनुकरण पर ही है। उद्भट ने कन्दर्प की प्रबलता द्वारा रति (स्थायी भाव), स्वेद-रोमाञ्च (अनुभावों) एवं श्रौत्सुक्य, चिन्ता, हर्ष (सञ्चारियों) को अपने लक्षण के अनुसार, स्व-(उन्हीं)—शब्द (शब्दों) से ही कहा है—

‘इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान् ।

संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥

स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम् ।

कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रसरोपमम् ॥

जगन्मौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया जगम् ।

जगं प्रमोदालसया दशाऽस्यास्यमभूष्यत ॥’

—का० सा०, सं० ६।७।८

कालिदास में अधिक परिमार्जित रूप रहने पर भी धृति को स्व-शब्द से ही कहा गया है—

‘हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

विघृणवती शैलसुताऽपि भावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।

सार्चाकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

—कु० सं०, पृ० ६७।६८

प्राच्यसाहित्य

भावों-समेत पचासों भावों के अनुभावों द्वारा सूचित होने पर (रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः) प्रेयस्वत् अलङ्कार की व्यवस्था की है और विभाव, अनुभावों द्वारा उन्मीलित इन्हीं स्थायी भावों का वर्णन करने पर 'रसवत्' अलङ्कार होने की बात बताई है। किन्तु राजानक तिलक ने कुछ और ही निश्चित किया है। उन्होंने कहा है कि रसात्मकता की स्थिति तक पहुँचाए बिना—स्थायी भावों का वर्णन सम्भव नहीं है, अतः वे (स्थायी भाव) रसवत् अलङ्कार के

विशेषतः इस ठौर प्रकारान्तर से इन कविताओं की कमनीयता के तारतम्य विवेचन करना तो मेरा उद्दिष्ट नहीं है। यहाँ उद्भट की रसज्ञता की सीमा समझ लेना ही पर्याप्त है।

* प्रतीहारेन्दुराज ने अनुभाव के चार प्रकार माने जाते हैं—आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। आङ्गिक=हाथ आदि अङ्गों का अभिनय; वाचिक=व्यंग्य आदि वचन का अभिनय; सात्त्विक=रोमाञ्च, कम्प आदि का अभिनय और आहार्य=वेश-विन्यास आदि के सहारे किया जानेवाला अभिनय। ये चारों अनुभाव कार्यरूप होने के कारण, कारणभूत स्थायी तथा सञ्चारी भावों की प्रतीति करा देते हैं।

जो उद्भट या प्रतीहारेन्दुराज के लिए अनुभाव के प्रकार थे वही पूर्ववर्ती भरत मुनि तथा परवर्ती विश्वनाथ द्वारा अभिनय के प्रकार के रूप में प्रतिपादित हुए हैं—

‘आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा ।

चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः ॥’

—नाट्य शा० ६, अ० २३

‘भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।

आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥’

—सा० द० ६ प० २

यहाँ इससे भी बढ़कर विचारोत्तेजक विषय है अभिनय का वही ‘भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः’ लक्षण, जो नाट्य का भी बताया जाता है—‘अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यम् ।’ और चूँकि उपर्युक्त उद्धरण अभिनयों-भरे हैं और श्रव्य के ही हैं, अतः ‘नाट्य’ का अर्थ, मेरे विमर्श के अनुसार, नाटक, या दृश्य काव्य समझना अन्धे की लाठी ही है।

विषय हैं और प्रीत्यात्मिका रति तथा व्यभिचारी भावों और सात्विक भावों को सूचित करनेवाला काव्य ही 'रसवत्' से विभिन्न प्रेयस्वत् का विषय हो सकता है।

इसी प्रकार 'पचासों भावों' से भी उन्हें आपत्ति है। उनका कहना है कि हास आदि भावों और हास्य आदि रसों का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में 'रतिः शृङ्गारतां गता' अथवा 'क्रोधो रौद्रात्मतां गतः' लिखकर यही दर्साया है कि रसात्मता की स्थिति तक पहुँचाए हुए स्थायी भावों का वर्णन ही रसवत् अलङ्कार का उदाहरण हो सकता है और प्रेयोऽलङ्कार में प्रीति-रूपा रति के समान अन्यान्य (संचारी) भाव भी वर्णित होते हैं; किन्तु रति, हास आदि स्थायी भाव उसके वर्ण्य विषय नहीं हो सकते।

ऐसी स्थिति में स्थायी भावों के रसवत् अलङ्कार के विषय सिद्ध हो चुकने पर प्रतीहारेन्दुराज की—

'रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः' (उद्धट)—इस कारिका के 'भावानाम्' (भावों) की वह व्याख्या किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं हो सकती जिसमें उन्होंने नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट स्थायी भावों को भी जोड़कर पचास भाव बना लिए हैं और उन पचासों की अनुभाव आदि द्वारा सूचना को प्रेयस्वत् अलङ्कार का विषय घोषित कर दिया है। अस्तु,

(४) वामन ने—'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयो-र्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते'—लिखकर आरम्भ में ही अपना काव्य-सम्बन्धी अभिमत स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि ओज आदि गुणों और यमक, उपमा आदि अलङ्कारों से सुशोभित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। काव्य का यह लक्षण लक्षित कर चुकने पर अपने प्रथम सूत्र—'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'—में ही उसका उपयोग न होते देखकर उन्होंने वृत्ति का अगला अंश लिखा है—'भक्त्या तु'—अर्थात् शब्दार्थमात्र के रूप में उसका यहाँ पर ग्रहण औपचारिक है।

तात्पर्य यह कि वामन ने प्रथम, द्वितीय और तृतीय सूत्रों में ('काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', सौन्दर्यमलङ्कारः' और 'स दोषगुणालङ्कार-हानादानाभ्याम्') यह लिखा है कि काव्य अलङ्कार से ग्राह्य होता है, सौन्दर्य अलङ्कार कहलाता है और सौन्दर्य का आधान दोषों के त्याग और गुणों तथा अलङ्कारों के ग्रहण से होता है। निष्कर्ष यह निकला कि निर्दोष तथा गुणालङ्कार से संस्कृत शब्दार्थ काव्य है।

प्रथम सूत्र अलङ्कार से काव्य की ग्राह्यता बतलाता है और 'अलङ्कार' शब्द से यहाँ क्या अभीष्ट है—इस विषय का विशाकलन अगले दोनों सूत्र करते हैं। जब तक तीनों सूत्रों के संश्लिष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता तबतक वामन के उद्दिष्ट काव्य-लक्षण (गुणों और अलङ्कारों से सम्पन्न शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं) की प्रतिपत्ति नहीं होती, इसीलिए प्रथम सूत्र की वृत्ति में उन्हें काव्य का अर्थ; औपचारिक रीति से ही सही, शब्दार्थ-मात्र बतलाना पड़ा है।

मैं समझता हूँ कि इस विषय की अधिक स्पष्टता के लिए यह कहना अच्छा रहेगा कि वामन ने काव्य के सामान्य और विशेष—दो प्रकार के लक्षण बताए हैं। सामान्य लक्षण है—शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं—यह बहुत कुछ भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' से मिलता-जुलता है। और विशेष अथवा आदर्श लक्षण है—गुणों तथा अलङ्कारों से सम्पन्न शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं।

वामन के इस ग्रन्थ (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति) में गुणों और अलङ्कारों का अद्भुत विवेचन है, अवश्य परवर्ती आलोचकों ने उसे चीथकर रख दिया है। कारण, इस समय तक काव्य में रस का स्थान निर्धारित न होने से गुणों का विवेचन आगे के आलङ्कारिकों को आमूल श्रुतिपूर्ण प्रतीत हुआ है। फिर भी दण्डी के—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' की विवेचना करते हुए वामन ने गुणों और अलङ्कारों की जैसी विशद विभाग-व्यवस्था की है, वह इससे पहले इतने प्राञ्जल रूप में कभी नहीं हुई थी।

(५) और रुद्रट ने भी काव्य का लक्षण पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार ही किया है:—

ध्वनि के स्वरूप-निरूपण के पूर्व

‘ननु शब्दार्थौ काव्यं शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः ।

वर्णानां समुदायः स च भिन्नः पञ्चधा भवति ।’

—का० द्वि०, अ० १

अर्थात्—शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। ‘काव्य’ का शब्दार्थ है कवि का कर्म या कवि का अभिप्राय।

यद्यपि कवि के काव्योपयोगी शब्दार्थ में परस्पर सापेक्षता रहती है (शब्द बिना अर्थ के काव्योपयोगी नहीं हो सकता और काव्योपयोगी अर्थ बिना शब्द के सम्भव नहीं) और इसलिए एक का ही उपादान होने पर दूसरा स्वतः लब्ध हो जाता तथापि दोनों—शब्द और अर्थ—को पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट करने का कुछ विशिष्ट प्रयोजन है और वह दोनों की प्रधानता को प्रख्यापित करना ही है।

इस स्थापना के विपरीत यदि दोनों में से एक का ही उपादान होता तो दूसरे के सदोष और निरलङ्कार रहने पर भी काव्य की साधुता नहीं खण्डित होती। किन्तु यह इष्ट नहीं है।

वस्तुतः दोनों का एक साथ उपादान न होने पर, तुल्यकक्षता से शब्द और अर्थ दोनों काव्यत्वेन अङ्गीकृत न होते और रुद्र का तात्पर्य यही है कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहलाते हैं। अस्तु,

रुद्र आचार्य आनन्दवर्द्धन के प्रायः समकालिक हैं। वह यद्यपि प्रधानतः आलङ्कारिक हैं; किन्तु काव्य की सरसता को लक्ष्य करते हैं—

‘ज्वलदुज्ज्वलवाक्सरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम् ।

स्फुटमाकरूपमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।’

—का० १ अ० ४

अर्थात्—अलङ्कारों के कारण ज्वलित = देदीप्यमान, दोष न रहने से उज्ज्वल = निर्मल वचन रचना करनेवाला महाकवि सरस (शृङ्गारादि रसों से युक्त) काव्य का निर्माण कर अपनी और चरितनायक की कीर्ति को युगान्त तक विस्तारित कर देता है।

इसी प्रकार रसों की परिगणना के पश्चात् उन्होंने फिर लिखा है :—

एकतालीस

‘एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग् विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥’

अर्थात्—ये इतने रस हैं, इनका निपुण गुम्फन रसज्ञ जनों को अद्भुत आनन्द देता है। सबसे बड़ी बात तो यह कि इनका सम्यग् ज्ञान प्राप्त किए बिना कोई सर्व-रम्य काव्य का निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए इनकी गहराई में उतरने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

जो हो; रुद्रट रसों से, उनकी विशेषताओं समेत, भलीभाँति परिचित दाखते हैं। निश्चय ही रसों की अभिव्यक्ति के लिए व्यञ्जना शक्ति की अनिवार्यता की ओर उन्होंने भी ध्यान नहीं दिया है।

आनन्दवर्द्धन से पहले काव्य-सम्बन्धी इतने-इतने प्रामाणिक विचार-विमर्श प्रस्तुत हो चुके थे जिनका उपयोग—प्रायः पूर्वपक्ष के रूप में—प्रकृत ग्रन्थ में किया गया है।

‘अग्निपुराण’ की चर्चा जान-बूझकर नहीं कर रहा,—जब भी ‘उसके’ अनेक श्लोकों का उद्धरण ध्वन्यालोक में पाया जाता है; किन्तु वस्तुतः अग्निपुराण ही ‘भट्टकंत’ श्लोकों का संग्रहमात्र है। उसकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के सम्बन्ध में यह निर्देश ही पर्याप्त होगा कि भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, आनन्दवर्द्धन आदि महान् आलङ्कारिकों ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी उसका उल्लेख नहीं किया है। चौदहवीं शताब्दी के विश्वनाथ और दसवीं शताब्दी के बाद के एकाध दूसरे ने भी अग्निपुराण का प्रामाणिक माना है। ‘इसलिए यह मानना पड़ता है कि अग्निपुराण का साहित्य और कोष का भाग, पष्ठ शतक से दशम शतक तक के अनेक ग्रन्थों से लेकर इसमें ग्रथित किया गया है।’

— — —

: ३ :

काव्यशास्त्र : वामन

(१)

वैसे तो 'रस-गद्' का बीज भरत से है; किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में उसे बहुत आगे चलकर स्वीकृति मिलती है और सबसे बड़ी बात तो यह कि 'आत्मा' की खोज (भले ही वह रस रूपी आत्मा की न हो) पहले-पहल वामन ने की है ।

मैं विस्मित हूँ कि उतने लम्बे-चौड़े 'नाट्यशास्त्र' में रस की पौराणिक चर्चा मात्र है । उसका माहात्म्य उपकरणों-समेत बताया गया है; किन्तु उसकी स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है—उसे नाट्य (काव्य के इसी स्वरूप में रसों की बात आई है—अष्टौ 'नाट्ये' रसाः स्मृताः ।) की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित नहीं किया गया है । जाँ हों, आत्मा तक सर्वप्रथम वामन ने ही दृष्टि फैलाई है ।

सर्वप्रथम इसलिए कि भामह और दण्डी ने इस रस के विषय को अलङ्कारों में ही अन्तर्भुक्त कर दिया है और अलङ्कारों के प्रथम परिष्कारक उद्भट ने भी यहाँ उन्हीं की अनुवर्तिता की है । रस न सही, अलङ्कार आदि को भी इनमें से किसी ने आत्मा के रूप में नहीं ग्रहण किया है । तभी वामन को आत्मा का आदि अन्वेषक कहना सर्वथा समुचित प्रतीत होता है ।

वामन वैयाकरण भी था । शब्द-शुद्धि का आग्रह उनके लिए अनिवार्य था । अवश्य 'अर्थ' के विवेचन में इस गहराई तक उसका उतरना आश्चर्यजनक एवं सहृदय-श्लाघ्य है ।

तैतालीस

प्राच्यसाहित्य

वामन प्रत्येक प्रकार के काव्य को प्राच्य नहीं मानता। उसकी मान्यता के अनुसार गुण (Diction) और अलङ्कार (Embellishments) से सुशोभित शब्द-अर्थ ही वस्तुतः काव्य की पदवी प्राप्त करने के योग्य हैं। यों शब्दार्थ मात्र को काव्य कहने का चलन है; किन्तु वह लोक में व्यवहृत होने पर भी काव्यशास्त्र से स्वीकृति पाने योग्य नहीं; वह अप्राह्य है।

वस्तुतः अलङ्कार का अर्थ सौन्दर्य (Embellishments) है—अलङ्करणम् अलङ्कारः, किन्तु ‘अलङ्क्रियते अनेन इति अलङ्कारः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार ‘अलङ्कार’ शब्द यमक, उपमा आदि अलङ्कारों (figures of speech) के अर्थ में यागरूढ़ भी है। फिर भी ‘अलङ्कार शब्दार्थ का काव्य कहते हैं,’ इसका अर्थ यमक, उपमा आदि अलङ्कारों से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि अलङ्कार के न रहने पर भी ‘शुद्ध-गुण’ काव्य आस्वाद्य होता ही है—‘युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।’

आगे चलकर मम्मट ने भी वामन की इसी मान्यता पर हस्ताक्षर कर दिए हैं। अलङ्कारों की अनिवार्यता मम्मट का भी मान्य नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनावश्यक है कि काव्य को प्राह्य बनानेवाला सौन्दर्य (elegance) ही होता है।

मैं समझता हूँ, वामन के इस ‘सौन्दर्यमलङ्कारः’ का रहस्य उद्घाटित करना यहाँ आवश्यक है। क्योंकि इस ऐसे ‘अलङ्कार’ के सम्पादन का प्रकार उसने दोषों के परित्याग और गुणों तथा अलङ्कारों के ग्रहण द्वारा ही बतलाया है। अर्थात्, उसके अनुसार ‘सुन्दर’ काव्य वही है जिसमें दोष न हों और गुण-अलङ्कार हों। काव्य में सौन्दर्य का आधान इसी प्रकार सम्भव भी है।

इसे और खोलकर कहने की आवश्यकता हो तो यों कहना चाहिए कि वामन के अनुसार अलङ्कार का अर्थ केवल अलङ्कार (उपमा आदि) नहीं, गुण (माधुर्य आदि) और अलङ्कार दोनों हैं।

माधुर्य आदि गुणों द्वारा जिस शोभा का आधान होता या उपमा आदि अलङ्कारों द्वारा उस (जिस शोभा) की अतिशयता का

चौआलीस

विधान होता है,—‘सौन्दर्य’ अथवा ‘अलङ्कार’ शब्द से उन दोनों ही को समझना चाहिए,—पूर्व-प्रचलित अलङ्कार मात्र को नहीं ।

आत्मा के सन्धान के अतिरिक्त ‘काव्य-शास्त्र’ को वामन की यही दूसरी देन है । गुण तथा अलङ्कार का ऐसा सुस्पष्ट विश्लेषण पहले नहीं हुआ था । वामन ने ही सर्वप्रथम इन दोनों की मर्यादा का निर्धारण किया । उसने बतलाया कि शब्द और अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा बढ़ाते हैं वे ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण ही हैं, यमक, उपमा आदि अलङ्कार नहीं, जैसा कि दण्डी ने कहा है—

‘काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते ।’ क्योंकि केवल यमक, उपमा आदि अलङ्कार काव्य की शोभा बढ़ाने में असमर्थ हैं, जब कि केवल ओज, प्रसाद आदि गुण काव्य की श्री-वृद्धि करने में सर्वथा समर्थ हैं । अर्थात् यमक, उपमा आदि अलङ्कार काव्य-शोभा की अभिवृद्धि तभी करते हैं; कर सकते हैं, जब कि उन्हें गुणों का साहचर्य प्राप्त हो, निर्गुण अलङ्कार का कुछ भी अर्थ नहीं ।

हाँ, अलङ्कार भी काव्य-शोभा की अतिशयता के कारण हैं—उसी काव्य-शोभा के, जिसका सम्पादन गुणों द्वारा पहले हो चुका रहता है । जैसे कोई तरुणी अपने सहज सौन्दर्य के कारण मनोहर लगती है; किन्तु कुछ चुने गहने पहने रहने पर उसका सहज सौन्दर्य और भी निखार पर आ जाता है, ठीक वही बात कविता-कामिनी के लिए भी है । उसमें भी गुण रहने पर प्राकृतिक सुषमा रहती है, पर यदि उसके साथ ही उपयुक्त अलङ्कार भी हों तो उसमें चार चाँद लग जाते हैं ।

मैं इसे और स्पष्टता के साथ कहूँ; गुण कविता का सहज सौन्दर्य है और अलङ्कार आहार्य । पहला, भीतरी विशेषता है; दूसरा, बाहरी चमक-दमक । भीतरी विशेषता रहने पर बाहरी चमक-दमक के बिना भी काम चल सकता है, पर बाहरी चमत्कार के बावजूद यदि भीतर खोखला हो तो फिर सारा गुड़ गोबर । इसलिए यों दोनों अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं, पर पहले का महत्त्व दूसरे से बड़ा है । दूसरा पहले ही पर आधारित जो है । जाँ हो,

वामन इन्हीं दोनों को सौन्दर्य कहता है; इसी सौन्दर्य से युक्त काव्य को ब्राह्म मानता है; और, दोषों के निराकरण एवं गुणों,

प्राच्यसाहित्य

अलङ्कारों के ग्रहण से उत्पन्न होनेवाले इसी 'सौन्दर्य' का ज्ञान शास्त्र द्वारा अर्जित करने का आदेश देता है।

काव्य-प्रकाश के उल्लेखों में श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न ने लिखा है कि—'सभी प्राचीन अलङ्कार-निबन्धों में वामन-वृत्ति ही उत्कृष्ट है। वामन ने अपनी किसी-किसी उक्ति के लिए अति समीचीन युक्ति दी है। शब्दशुद्धि के अतिरिक्त किसी अप्रासङ्गिक विषय का वर्णन नहीं किया है। और सबसे बढ़कर शृङ्गार रस से अपने निबन्ध को बचाया है, जिस कारण अश्लीलता कहीं नहीं आ पाई है।'

वस्तुतः 'शब्दशुद्धि' को अप्रासङ्गिक कहना उचित नहीं। कारण, भामह ने अपने 'काव्यालङ्कार' के माध्यम से इस प्रसङ्ग की भी परम्परा प्रवर्तित कर रखी थी। उनका कहना था कि इस अगाध व्याकरण रूपी अर्णव को बिना आलोकित किए शब्द-रत्न नहीं हाथ लगने के। और, दूसरे से प्रयुक्त शब्दों के सहारे कविता बनाने में भला क्या आनन्द है! किसी गले से, भलीभाँति पहनकर, उतारे हुए पुष्प-माल्य में रस होगा भी भला? चाहिए तो यह कि कवि अपनी प्रतिभा से प्रसूत नये-नये शब्द पिरोता हुआ काव्य-रचना करे। वैसे तो पर-प्रयुक्त शब्दों का दुहराते हुए काव्य निर्माण करनेवाले ही प्रचुर परिमाण में पाए जाते हैं।

‘या कि, नय इन्द्रनील-लघु-श्रृंग
फोड़ कर धधक रही हो कानन ;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त !’

× × ×

‘नयनों की नीलम की षाठी
जिस रस-घन से छा जाती हो ;
वह कौंध कि जितमें अन्तर की
शीतलता टंडक पाती हो।’

—कामायनी

यह अनुकृत शब्दावली नहीं; टंडक पहुँचानेवाली यह कौंध विरादर वादलों से उधार ली हुई नहीं हो सकती। अस्तु,

छियालीस

शब्दों के ये रत्न अनायास ही नहीं उपलब्ध हुआ करते। इनकी उपलब्धि के लिए व्याकरण के समन्दर को मथना पड़ता है। किन्तु यह समुद्र-मन्थन का कार्य अति कठिन है, विरले ही इसे कर पाते हैं। जो कर पाते हैं, भामह, वामन आदि उन्हें स्मरण भर दिला देते हैं—पेचीदे प्रयोगों का ही तो वह उल्लेख करते हैं; और जो कोरे हैं, उन्हें सावधान कर देते हैं कि सम्यक् ज्ञान के स्थान पर 'क्रान्ति' मात्र करने से सब समय काम नहीं चलता।

सच तो यह कि वामन काव्य की ग्राह्यता का विवेचक है, शब्दार्थ मात्र को काव्य कह कर चलता कर देनेवाला नहीं। वह जिस अलंकार अथवा सौन्दर्य को काव्य की ग्राह्यता का हेतु मानता है वह दोषों के हान और गुणालंकारों के आदान से ही सम्पादित होता है। और, दोषों के ज्ञान के बिना उनका परिहार कैसे सम्भव है? अतः निर्दोष शब्दों का ज्ञान कराने के लिए—ऐसे शब्दों का, जिनके प्रयोग में वैशाकरणों के भी चूक जाने की आशंका है, उसने 'पञ्चम अधिकरण' की कल्पना की है। वह किसी भी प्रकार अप्रासङ्गिक अथवा अनावश्यक नहीं है। उसने दोषवाले (द्वितीय) अधिकरण में सर्वप्रथम 'असाधु' दोष की ही चर्चा की है जो व्याकरण की अशुद्धि से होता है। अतः वामन का शब्द-शुद्धि-प्रकरण सर्वथा सुसंगत समझा जाना चाहिए।

मैं समझता हूँ, काव्य-शास्त्र में नायिका-भेद की विस्तृत चर्चा की अपेक्षा यह शब्दों का विवेचन अधिक उपयुक्त है। वामन ने विद्याओं में सबसे पहले व्याकरण का ही परिगणित किया है और कहा है कि शब्दों की शुद्धि या साधुत्व का निश्चय इसी (व्याकरण) से करना चाहिए। निश्चय होने पर निर्भय होकर कवि-गण शुद्ध पदों का प्रयोग करते हैं और यह कहना तो अनावश्यक ही है कि अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करने पर कवि और काव्य—दोनों का अनाहत होना पड़ता है। दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में लिखा है—

‘गौरीः कामदुषा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यन्ते बुधैः ।

दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्रं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥’

रीतिरात्मा काव्यस्य

शब्द और अर्थ दोनों को यदि काव्य का शरीर मान लें तो उस शरीर की आत्मा 'रीति' होगी। यों तो जैसे रीति को आत्मा मानना औपचारिक है वैसे ही शब्दार्थ-युगल को शरीर मानना भी।

जिसमें वाणी की मधुर धार क्षरित होती हो या जिसमें गुणों का ग्रहण सम्भव हो उसे रीति कहते हैं।

वामन के शब्दों में विशिष्ट पद-रचना को 'रीति' कहते हैं। यहाँ विशेषता गुण-मूलक समझी जानी चाहिए। अर्थात् ओज, माधुर्य, आदि गुण जिसकी प्रकृति हों, ऐसी पद-रचना को ही विशिष्ट पद-रचना कहते हैं और वही रीति है।

रीति तीन प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। नामों का क्रम-निर्देश योग्यता के अनुसार है। अर्थात् सकल गुणों का आश्रय होने की शक्ति के कारण वैदर्भी सर्वश्रेष्ठ रीति बताई जाती है—'समग्रगुणा वैदर्भी।'

वैदर्भी की परिभाषा गढ़ते हुए कहा गया है कि जिसमें लेशमात्र भी दोष न हो और जो समग्र गुणों से गुम्फित, वीणा के स्वरों के समान सरस सुभग हो उसे वैदर्भी रीति कहते हैं। जैसे—

‘कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !’

× × ×

‘धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम-व्योम प्रवाल,
आज सोने का सन्ध्याकाल;
जल रहा जलुगृह-सा विकराल !’

कवि चाहे जिस कोटि का हो, उसके शब्द अनुशिष्ट और अर्थ अपूर्व-कल्पित भी हों; किन्तु वैदर्भी के विना सहृदय-हृदयों से आस्वाद्य समग्र-सौन्दर्य से समुन्मिषित रस नहीं छलकता। कालिदास वैदर्भी के सन्दर्भ में सबसे बड़े माने जाते हैं—वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासः प्रगल्भते।

जिसमें ओजस् और कान्ति नामक गुणों का प्राचुर्य हो उसे गौड़ी रीति कहते हैं। इसमें माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव होता है; यह लम्बे-लम्बे समासों तथा उद्धट पदों से युक्त होती है। जैसे—

‘ये अञ्जु राम के ! आते ही मन में विचार,
उद्वेग हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार !
हो श्रवित पवन उनचास पिता-पक्ष से तुमुल
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरङ्ग-भङ्ग उठते पहाड़,
जलराशि राशि-जल पर चढ़ता, खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिविजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जल-राशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्राङ्ग तेज-घन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र चुन्ध कर अट्टहास !’

—निराला : राम की शक्ति-पूजा

अथवा

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत-शत फेनोद्ध्वसित, स्फीत फूत्कार भयङ्कर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल,
दिङ्मण्डल !’

—पन्त : परिवर्तन

माधुर्य तथा सौकुमार्य नामक गुणों से उपपन्न पाञ्चाली रीति होती है। इसमें ओजस् तथा कान्ति नामक गुणों का अभाव होता है जिस कारण बन्ध में शिथिलता तथा एक प्रकार की कोमलता आ जाती है। जैसे—

‘विन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त संगीत;
एक कलिका में अखिल वसन्त
धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत !’

वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियों के नाम विदर्भ, गौड़ तथा पाञ्चाल से सम्बद्ध होने के कारण ऐसी शङ्का न होनी चाहिए कि जैसे सिन्धु देश में उत्पन्न होने से सैन्धव लवण (सेंधा नमक) विशिष्ट गुणवाला होता है, उसी प्रकार देश के अनुसार काव्य भी विशिष्ट गुणवाले होते हैं। वस्तुतः भाषा के पश्चात् व्याकरण की भाँति काव्य के पश्चात् उसकी रीति-नीतियाँ व्यवस्थापित होती हैं और रीतियों का उपर्युक्त नामकरण उन-उन देशवासी कवियों की रचना-प्रणाली के अनुसार हुआ है।

वामन कहते हैं कि उन तीनों रीतियों में काव्य उसी प्रकार ओत-प्रोत रहता है जिस प्रकार रेखाओं में चित्र। इतने पर भी इन तीनों को समशीर्ष या तुल्यबल नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैदर्भी गुणों की समग्रता के कारण इतर वृत्तियों से बहुत आगे निकल जाती हैं। अलबत्ता कुछेक आचार्यों का विचार है कि गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों को वैदर्भी के उत्तुङ्ग सौध तक पहुँचने का सोपान समझना चाहिए, किन्तु इसे वामन नहीं स्वीकारते। उनका कहना है कि जिस प्रकार पटुण का मोटा कपड़ा बुननेवाला जुलाहा महज बुननेवाला होने के कारण तसर की बारीक बुनाई नहीं कर सकता, उसी प्रकार गौड़ी पाञ्चाली-जैसी रीतियों का अभ्यासी वैदर्भी के सन्दर्भ में नहीं निपुण हो सकता। मेढ़े की सवारी कसनेवाला बहुत बड़े घुड़सवार होने की सम्भावना नहीं दरसाता।

वैदर्भी का सन्दर्भ कुछ ऐसा होता है जिसमें न-कुछ-सी बात भी वजनी मालूम देती है। उसके सुनने से सहृदयों के कानों का अमृत-फुहार का-सा आनन्द प्राप्त होता है। जैसे—

‘तुम दुख बन इस पथ-से आना !
 शूलों में नित मृदु पाटल-सा
 खिलने देना मेरा जीवन;
 क्या हार बनेगा वह जिसने—
 सीखा न हृदय को बिधवाना ?
 तुम दुख बन इस पथ से आना !’

— महादेवी

इस प्रकार त्रिविध रीतियों का प्रतिपादन और उनका सीमा-निर्देश वामन से पहले के भरत, भामह तथा दण्डी द्वारा नहीं निष्पन्न हुआ था। अवश्य दण्डी ने वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियों का पारस्परिक प्रभेद प्रदर्शित किया था; किन्तु पाञ्चाली-समेत इन तीनों का विशकलन प्रथम-प्रथम वामन ने ही किया। आत्मा के सन्धान तथा गुणों और अलङ्कारों के परस्पर भेद-प्रदर्शन के अतिरिक्त वामन का यह तृतीय कृतित्व है। यहीं ‘काव्यालङ्कार-सूत्र’ का प्रथम अधिकरण समाप्त होता है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। वामन के उपर्युक्त त्रिविध कृतित्व प्रथम अधिकरण के ही विषय हैं, अतः ग्रन्थ का प्रमुख भाग इसे ही माना जाना चाहिए।

द्वितीय अधिकरण का विषय दोष-दर्शन है। गुणों तथा अलङ्कारों से घटित काव्य-सौन्दर्य को विपर्यस्त करनेवाले दोषों का ज्ञान निर्माता एवं प्रमाता के लिए कितना आवश्यक है, यह इसके मनन से ही समझा जा सकता है। दोष की ऐसी निर्दोष परिभाषा बहुत बार नहीं निर्मित हुई—

‘गुणविपर्ययात्मानो दोषाः ।’

गुण के विपरीत स्वरूप पर प्रकाश डाल कर दोष-सामान्य का लक्षण लक्षित करनेवाले के समक्ष यह अलक्षित नहीं था कि गुणों के स्वरूप-निरूपण से उसके विपर्यय-स्वरूप दोषों का अनुमान लक्षण-उदाहरण के प्रपञ्च के बिना भी सम्भव है। अवश्य वह दुर्गम मार्ग गहरे पानी में पैठनेवालों के लिए ही सुगम होता और इस विस्तृत राजमार्ग पर साधारण बुद्धि भी तेज रफ्तार में दौड़ सकती है।

इक्यावन

प्राच्यसाहित्य

तृतीय अधिकरण में गुण-विवेचन है। वामन ने शब्द और अर्थ के दस-दस गुणों को प्राञ्जल पद्धति से प्रदर्शित किया है। यह क्रम भी प्राक्तन आचार्यों द्वारा अनिर्दिष्ट-सा ही था। दण्डी ने दस अर्थ-गुणों का वर्णन अपनी ओर से विस्तारपूर्वक ही किया है और 'कान्ति' के उदाहरण-स्वरूप जो दो पद्य प्रस्तुत किए हैं वे प्रशंसित भी हुए हैं—

‘अनयोरनवधाङ्गि स्तनयोजृम्भमाणयोः ।

अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥’

× × ×

‘अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।

इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥’

किन्तु शब्दगत तथा अर्थगत दस-दस गुणों का वामनकृत विवेचन अपने ढंग का है। क्योंकि भरत-प्रतिपादित दस गुणों का भामह ने तीन गुणों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) में अन्तर्भाव कर दिया था जो आगे चलकर मम्मट आदि द्वारा सविशेष समर्थित हुआ और वैदर्भी-गौड़ी रीतियों के विवेचन-प्रसंग में दण्डी-प्रतिपादित दस गुणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

चतुर्थ अधिकरण में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार विवेचित हैं जिनमें उल्लेख्य हैं वक्रोक्ति तथा विशेषोक्ति की परिभाषाएँ—

(१) सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ।

(२) एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदाढ्यं विशेषोक्तिः ।

वामन के अनुसार वक्रोक्ति उसे कहते हैं जिसमें सादृश्यमूलक लक्षणा हो ।

लक्षणा पाँच प्रकार की होती है। एक वह जिससे वाच्यार्थ लक्षित होता है, जैसे—‘द्विरेफ’ शब्द। दूसरा प्रकार है सादृश्यमूलक, जैसे—शेर बच्चा। तीसरा समवाय सम्बन्ध से, जैसे—गङ्गा में घोष; चौथा वैपरीत्यमूलक, जैसे—यह मूर्ख बृहस्पति। और पाँचवाँ क्रिया के योग से, जैसे—इस महान् समर में तुम शत्रु हो ।

‘अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः ।

वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥’

ऐसी स्थिति में, जहाँ सादृश्यमूला (गौणी) लक्षणा हो, वहीं वक्रोक्ति अलंकार होगा। जैसे—

‘उन्मिलित कमलं सरसीनां
कैरवञ्च निमिलित मुहूर्तात्।’

यों तो उन्मीलन-निमीलन नेत्रधर्म हैं, किन्तु यहाँ कमल के विकास और कुमुद के संकोच के लिए उनका प्रयोग किया गया है जो सादृश्य के कारण ही लक्षित होता है। वामन इसे वक्रोक्ति कहते हैं। वक्रोक्ति के इतने उदार अर्थ में प्रयोग का विस्तार ही ‘वक्रोक्तिजीवित’ है।

इसी प्रकार—

एक गुण की कमी की कल्पना करते समय, दूसरे-दूसरे गुणों से साम्य को सुदृढ़ करना विशेषोक्ति है—यह वामन का निजी मत है। अन्यान्य आलङ्कारिक कारण के रहते हुए कार्य के न होने को विशेषोक्ति कहते हैं।

हाथी एक चलता-फिरता हुआ किला है; जुआ विना सिंहासन का राज्य है—वामन के अनुसार यह सब विशेषोक्ति का विषय है।

पञ्चम अधिकरण में शब्द-शोधन का विषय है। इस पर बहुतेरे आलङ्कारिकों ने प्रकाश डाला है। आज मनमाने ढंग से शब्दों का प्रयोग करना ‘कान्ति’ में शुमार है; किन्तु सौन्दर्य के आग्रही वामन ने काव्य के शारीरिक सौन्दर्य की रक्षा के अभिप्राय से ही शब्दों को शोधा है।

काव्यशास्त्र : रुद्र

यों तो संस्कृत-साहित्य के इतिहास में रुद्रभट्ट, रुद्रदेव, रुद्रदामन, रुद्रमाधव, रुद्र आदि के नाम आते हैं; किन्तु इनमें से कोई भी प्रख्यात कवि नहीं है। डाक्टर आर० पिश्चल ने 'शृङ्गारतिलक' की भूमिका में उसके रचयिता के रुद्रट, रुद्र, रुद्रभट्ट, रुद्रभट तथा भट्ट-रुद्र—ये पाँच छोटे-बड़े नाम दिये हैं। यह 'शृङ्गारतिलक' नाम भी तीन प्रकार के ग्रन्थों का है। एक 'शृङ्गारतिलक' मुक्तक-काव्य है जिसके रचयिता कोई कालिदास बताये जाते हैं; किन्तु यह प्रामाणिक रूप में खण्डित मत है। बहुत सम्भव है, किसी रुद्र कवि की ही यह रचना हो। दूसरा 'शृङ्गारतिलक' एक रूपक है, जिसके निर्माता श्री रामभद्र दीक्षित हैं। ये दक्षिण भारत के, सत्रहवीं शताब्दी के कवि-नाटककार हैं। इनके लिखे हुए 'शृंगारतिलक' के अतिरिक्त, और आठ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। और तीसरा 'शृङ्गारतिलक' उपर्युक्त रुद्र-विरचित नायिका-भेद-प्रधान अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके तीन परिच्छेदों में संयोग-वियोग-शृङ्गार के आवेष्टन में नायक-नायिका के अतिरिक्त रस, रीति-वृत्तियों का अच्छा निरूपण हुआ है।

लक्ष्य करने की बात यह है कि 'शृङ्गार - तिलक' के अन्तरराष्ट्रीय संस्करण में उसके सम्पादक श्रीपिश्चल ने निर्माता के स्थान पर रुद्रट का नाम लिखा है जब कि रुद्रट का 'काव्यालङ्कार' नामक एक स्वतन्त्र परम-प्रामाणिक अलङ्कार - ग्रंथ है। यह रुद्रट काश्मीरी थे और इनका समय नवीं शताब्दी से पहले निर्णीत हो चुका है। इनके काव्यालङ्कार में अलङ्कार शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की गई है। ७३४ पद्यों में उन्होंने लक्ष्य-लक्षण के लिए निजी प्रतिभा ही प्रदर्शित की है। तात्पर्य यह कि न तो काव्यालङ्कार और शृङ्गारतिलक एक ग्रन्थ के दो नाम हैं और न दोनों के रचयिता एक ही रुद्रट हैं। इतना

ही नहीं, 'शृङ्गारतिलक' के रचयिता ने स्वयं अपना नाम रुद्र लिखा है :—

‘त्रिपुरवधादेव गतामुखासं समस्त विबुधनुताम् ।

शृङ्गारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति ॥’

संक्षेप में, 'शृङ्गार-तिलक' के निर्माता रुद्र का परिचय इस प्रकार है। वह वामुक भट्ट के पुत्र रुद्रट, जिनका दूसरा नाम शतानन्द भी था, से पृथक् हैं, याकोवी ने इसे प्रमाणित कर दिया है। 'काव्यालङ्कार' और 'शृङ्गार-तिलक' एक हाथ की रचनाएँ नहीं हैं, इतना ही नहीं, इनकी 'समकालिकता' भी प्रमाण-पुष्ट नहीं है। इतने पर भी 'शृङ्गार-तिलक' की प्राचीनता को चुनौती नहीं दी जा सकती। रुद्र ने भरत का ही मुस्पष्ट उल्लेख किया है, अन्य किसी पूर्ववर्ती या समकालिक का नहीं। भानु मिश्र की रसमञ्जरी आदि पर 'शृङ्गार-तिलक' की शैली की छाप देखी जा सकती है। हेमचन्द्र को इसकी अभिज्ञता थी। अनुमानतः इनका समय भी नवीं शताब्दी के आस-पास ही हो सकता है।

रुद्र शैव मत के अनुयायी थे, यह इनके नाम से भी ध्वनित होता है। अन्तिम श्लोक की रचना-प्रौढ़ि के कारण स्वयं कवि रुद्र भगवान् रुद्र का उत्कर्ष प्राप्त कर लेते हैं। आरम्भिक श्लोक कवि के शिवानुध्यायी होने की ओर स्पष्ट इङ्गित करता है :—

‘शृङ्गारी गिरिजानने सकरुणो रत्यां प्रवीरः स्मरे

बीभत्सोऽस्थिभिरुफणोति भयकृन्मृत्याद्भुतस्तुङ्गया ।

रौद्रो दक्षविमर्दनेन ह्यसकृन्नमः प्रशान्तश्चिरा—

दिस्थं सर्वरसाश्रयः पशुपति भूयात् सतां भूतये ॥’

कवि भगवान् शिव को नवीं रम्यो का आश्रय या प्रतीक सिद्ध करता है। वह कहता है, जब-जब उनकी दृष्टि पार्वती के मुख की ओर जाती है, शृङ्गार के भाव-कदम्ब खिल उठते हैं। रति को देखकर करुणा उमड़ पड़ती है। कामदेव को उनकी वीरमूर्ति के ही दर्शन होते हैं। कपालमालाओं के कारण वह बीभत्स लगते हैं तो फन फैलाए हुए साँपों को लिपटाये रहने के कारण भयानक। इसी प्रकार देवदारु-से उच्छ्राय या ऊँचे आकार-प्रकार के कारण वह अद्भुत प्रतीत होते हैं।

प्राच्यसाहित्य

दक्ष प्रजापति का गर्व खर्वकर उन्होंने अपना रौद्र रूप भलीभाँति प्रकट कर दिया है। नङ्गा रहना यों भाता है कि कोई भी त्रैलोक्य-रक्षक के दिगम्बर रूप पर हँसे बिना न रहे। और, शान्त रहना तो उनकी चिर-प्रकृति ही है। ऐसे सारे रसों के आश्रय सदाशिव सज्जनों का कल्याण करें।

‘रसमञ्जरी’ पर ‘शृङ्गार तिलक’ का प्रभाव इस मङ्गलाचरण से ही देखा जा सकता है। ‘आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि’ वाला श्लोक भी शिव की सरसता का ही विदग्ध वर्णन करता है। यदि मौलिक कृति के साथ-साथ इनकी नवीं शताब्दी की रचनावाली बात भी सर्व-वादि-सम्मत हो जाय तो रसमञ्जरी ही क्यों, नायिका-भेद के उदाहरणों के रूप में प्रचलित समस्त परवर्तिनी रचनाएँ शृङ्गार-तिलक की प्रतिच्छायाएँ सिद्ध हो जायँ। किन्तु ऐसे ऐकमत्य को इतने विरोधों और अन्तर्विरोधों में से अपनी विजय का पथ निकालना पड़ता है कि ऋजुगामियों का दल ‘मञ्जिम-निकाय’ को सहज ही अपना लेता है।

उदाहरणार्थ, डा० पिञ्चल रुद्रभट्ट तथा रुद्रट को एक मानते दिखते हैं। डाक्टर व्यूलर ने अपनी काश्मीर-रिपोर्ट में रुद्रट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है। किन्तु रुद्रट, उनके टिप्पणीकार और उनके व्याख्याकार नमि साधु का एक ही समय माने बिना वह कैसे सिद्ध हो सकता है? रुद्रट के उदाहरण ‘काव्य-प्रकाश’, ‘साहित्य-दर्पण’ आदि प्रख्यात अलङ्कार-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उसी प्रकार इस ‘शृङ्गार-तिलक’ के निर्माता ‘रुद्र’ भी अनेकशः उद्धृत हुए हैं।

‘न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः’
अथवा

‘सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगालाञ्छनः—

जैसे—पद्यांशों के अतिरिक्त उनके सम्पूर्ण सुन्दर पद्य—

‘अस्माकं सखि वाससो न रुचिरे प्रैवेयकं नोऽज्वलं
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः।

किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो

दृष्टि निक्षपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम्।’

—शृ० १।३०

तथा

‘किं रुद्रः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्धेजितः
किं वा कारणगौरवं किमपि यन्नाद्यागतो वल्लभः ।
इत्यालोच्य मृगोदशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं
दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, चिसाश्च पुष्पस्रजः ।’

—शृ० १।१३६

आदि ‘साहित्य-दर्पण’ के तृतीय परिच्छेद को गौरवान्वित कर रहे हैं ।

‘नीलोत्पलदलश्यामां बिज्जिकां मामजानता ।

वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥’

की दर्प-भरी ‘बिज्जिका’ के नाम से अनि प्रचलित—

‘धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि

विश्वन्ध-चाटुक-शतानि रतान्तरेषु ।

नीवीमप्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥’

यह पद्य अपनी काम-समाधि की अपूर्व कमनीयता के कारण मम्मट, विश्वनाथ आदि द्वारा सातिशय समादृत हुआ है । रुद्र ने शृङ्गार-तिलक में ठीक इसी भङ्गिमा का चित्रण किया है :—

‘धन्यास्ताः सखि योषितः प्रियतमे सर्वाङ्गलम्बेऽपि याः

प्रागल्भ्यं प्रथयन्ति मोहनविधावालम्ब्य धैर्यं महत् ।

अस्माकन्तु तदीयपाणिकमलेऽप्युन्मोचयत्यंशुकं

कोऽयं का वयमत्र किं च सुरतं नैव स्मृतिर्जायते ॥’

—शृ० १।७५

रुद्र के ऐसे कितने ही पद्य हैं जो बड़े-बड़ों की मौलिकता के आगे सहज ही प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं ।

‘शृङ्गारतिलक’ के प्रथम परिच्छेद में संभोग शृङ्गार का १६६ श्लोकों में, द्वितीय परिच्छेद में, विप्रलम्भ शृङ्गार का ११५ श्लोकों में और तृतीय परिच्छेद में अन्यान्य रसों तथा वृत्तियों का ८५ श्लोकों में सुन्दर निर्देशन है ।

समग्रता में इस कवित्व-परिपाटी का निरीक्षण करने पर यह असन्दिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि रुद्र की काव्य-प्रतिभा

प्राच्यसाहित्य

असाधारण थी। जैसे समस्त रीतिकालीन कवियों में देव, विहारी, पद्माकर अपनी प्रातिभ अतिशयता के कारण सीमित क्षेत्र में भी असीम-से प्रतिभासित होते हैं, वैसे ही रुद्र के संयोग-वियोग-वर्णन में अपूर्वता, अद्भुतता के पद-पद पर दर्शन होते हैं। जैसे पद्माकर के—

‘जाहिरै जागति-सी जमुना जब बूढ़ बहै उमहै वह बेनी ।
 त्यों ‘पदमाकर’ हीर के हारनि गंग-तरंगन को सुखदेनी ॥
 पायँ के रँग सों रँगि जाति सी भौँति-हि भौँति सरस्वति सेनी ।
 पैरे जहाँ ई-जहाँ वह ढाल तहाँ तहाँ ताल में होति त्रियेनी ॥’

या—

‘खेद को भेद न कोऊ कहै व्रत आँखिन हूँ अँसुवान को धारो ।
 त्यों ‘पदमाकर’ देखती हौ तनकौ तन कंप न जाते सँभारो ॥
 हूँ धौँ कहा को कहा गयो यों दिन द्वैक ही तें कछु ख्याल हमारो ।
 कानन में बसी बाँसुरी की धुनि प्रानन में बस्यो बाँसुरीवारो ॥’

ये पद केवल नायिका-भेद नहीं, उच्च-कांति के चित्र-सज्जीत-शिल्प से सज्जित काव्य हैं, उसी प्रकार रुद्र के—

‘सन्तप्तः स्मरसंनिवेशविवशैः श्वासैर्मुहुः पञ्चमो-
 द्गारावतिभिरापतद्भिरभितः सिक्तश्च नेत्राग्बुभिः ।
 प्लुतस्याः प्रियविप्रयोगविधुरस्यक्त्वाऽधरो रागितां
 सप्रत्युद्धतवह्निवारिविषमं मन्ये व्रतं सेवते ॥’

या—

तापः शोषितचन्दोदकरसः श्वासो विकीर्णोत्पलः
 कपूराम्भिनवप्रचण्डपटिमा गण्डस्थले पाण्डिमा ।
 ग्लायद्बालमृणालनालललिता प्राप्ता तनुस्तानवं
 तन्वङ्ग्याः कथितः स्मरेण गुरुणा कोऽप्येष कष्टक्रमः ॥’

ये श्लोक भी लक्ष्य-लक्षण का प्रसङ्ग-निर्वाह मात्र नहीं प्रदर्शित करते। ‘शृङ्गारतिलक’ ऐसे मुक्तकों के मुक्ताकलाप से उद्भासित-उद्भासित है।

शृङ्गार की भौँति अन्यान्य रसों का निर्वाह भी कवि ने अपने ही ढंग से किया है। रौद्र रस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत—

अट्टावन

‘यैः प्राणपहतः कृता मम पितुः छद्मैर्युधि क्षत्रियै
रामोऽहं रमणीर्विहाय बलवन्निशेषमेवां हठात् ।
भास्वत्प्रौढकुठारकोटिघटनाकाण्डश्रुत्कन्धरा
स्रोतोऽन्तःस्रुतविस्त्रशोणितभरैः कुर्यां क्रुधो निवृत्तिम् ॥’^१

पद्य के पढ़ते ही भट्टनारायण के वर्णसंहार की सहसा स्मृति हो जाती है—

‘कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मयादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥’^२

जब भी संघटना की दृष्टि से रुद्र के पद्य के समझ यह लुप्त है । यही वह प्रौढ़ है जो रुद्र की प्रतिभा को श्रेष्ठतर सिद्ध करती है । अधम वीर के लिए उदाहृत और एक पद्य :—

‘मरौरावणतीव्रदन्तमुसलैरेरण्डकाण्डायितं
वज्रेणापि विकीर्णवद्धिततिना मारुज्जनालायितम् ।

१—भगवान् परशुराम के क्रोध, अमर्ष तथा प्रतिहिंसा-ऐसे कुठार कठोर भावों को आग्नेय शब्दों में अभिव्यक्त किया है । वह कहते हैं कि जिन लुप्त क्षत्रियों ने रण क्षेत्र में मेरे पूज्य पिता का प्राण-हरण किया है, अपने चमकते-चाखे फरसे से उनके गले, गाजर मूली की तरह, काट-काट कर, उनसे फव्वारे की तरह छूटते हुए रक्त और गदली चर्बों से यदि मैं अपने दिल की आग न बुझाऊँ तो मेरा नाम परशुराम नहीं ।

२—युधिष्ठिर की क्रोडोक्ति से अस्त्र-शस्त्र फेंक कर आत्मार्पण कर देनेवाले गुरु द्रोण के प्राण-विसर्जन के पश्चात्, दुरभिसन्धियों से आहत होकर अश्वत्थामा कहता है कि जिन मर्यादाहीन नर-पशुओं ने आज शस्त्र तान कर यह गुरु-हत्या की; इसकी अनुमति दी अथवा चुपचाप यह पैशाचिक दृश्य देखते रहे, तनिक विरोध तक न किया, अभी-अभी मैं युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के साथ-साथ उन सभी के रक्त, मेद और मांस की, दिशाओं को बलि दूँगा ।

मद्वच्चस्यवलम्ब्य किञ्चिदधुना तद्विस्मृतं वज्रिणा
युद्धं यद्यवलम्बते स तु पुनः सज्जोऽस्म्यहं रावणः ॥^{१३}

इसमें कुछ व्याकरण के चमत्कृत प्रयोगों द्वारा रावण के गर्व, औद्धत्य, उत्साह, अमर्ष और आवेग का कौशलपूर्ण प्रदर्शन हुआ है।

रुद्र कवि के शृङ्गारतिलक से यह भी प्रमाणित हो गया है कि रीति-ग्रन्थों की परम्परा मौलिकता पर ही प्रतिष्ठित थी, भामह, उद्भट, रुद्रट, दण्डी और स्वयं रुद्रभट्ट ने भी लक्ष्य-लक्षण-निर्माण में अखण्ड-मौलिकता का ही परिचय दिया है। प्रामाणिक आकार-ग्रन्थों में काव्यालङ्कार, ध्वन्यालोक, यक्रोक्तिजीवित, व्यक्तिविवेक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ही प्रबन्ध-शैली में लिखे गए थे, जिनमें दूसरे-दूसरे कवियों से उदाहरण उपस्थित किए गए थे जिस कारण पण्डितराज ने 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं' लिख कर अपनी दांभिकता का परिचय दिया। वस्तुतः यह कोई नई सूझ न थी। सभी प्राचीन आलङ्कारिक इसी पथ के पथिक थे।

इतने पर भी यह न कहना कि आलङ्कारिक कवियों की परम्परा में केवल पण्डितराज ही महाकवि के रूप में सर्व-समाहृत हुए हैं, वास्तविकता पर पर्दा डालना होगा। कुल मिलाकर रुद्र कवि एक अच्छे आलङ्कारिक विद्वान् कवि ही थे, कालिदास-भवभूति के समान महाकवि नहीं। काव्य-सम्बन्धी उनकी मान्यता भी बड़ी ही अनोखी है। वह कहते हैं :—

१ — जब-जब देव-दानवों में द्वन्द्व होता, देव ही हारते। प्रत्येक बार दानव अपराजेय सिद्ध होते। ऐसे में उनके दम्भ और औद्धत्य की अभिशुद्धि स्वाभाविक ही कही जायगी। रावण के अहङ्कार का यह विस्फोट उसी कोटि का है। वह कहता है, इन्द्र के ऐरावत की मस्ती तो तभी देख ली थी जब मेरी छाती से टकराकर उसके मुमल की तरह चोट करनेवाले दाँत एरण्ड-काण्ड की तरह तड़ातड़ टूट गए थे और चिनगारियों उगलनेवाला उनका वज्र मृणाल-नाल-सा लच-मुड़ गया था। मैं समझता हूँ, पिछले घमासान युद्ध का हाल भूल गए इन्द्रदेव ! तभी उन्होंने फिर से लड़ने की सोची है ! जो हो, रावण तो सदा सज्जित है—बढ़कर आजमा लें फिर एक हाथ !

‘सत्यं सन्ति गृहे-गृहे सुकवयो येषां वचश्चातुरो
स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते ज्ञातैर्गुणैर्गौरवम् ।
दुष्प्रापः स तु कोऽपि कोविदकविर्यद्वाप्रसन्नाहिणां
पण्यकीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुः क्षमा ॥’^१

यह काव्यकला के लिए वाराङ्गनावाली उपमा ‘कामिहिं नारि पित्रारि
जिभि’ के समान उत्कट सार्थकता रख कर भी अशोभन प्रतीत होती
है। हाँ, कवित्व की उच्चता के व्याज से भवभूति के सादृश्य की याद
दिलानेवाली यह आत्मश्लाघा अवश्यमेव श्लाघ्य है :—

‘सानन्दप्रमदा-कटाक्षविशिखैर्येषां न भिन्न’ मनो
यैः संसारसमुद्रपातविधुरेष्वन्येषु पोतायितम् ।
यैनिःसीमसरस्वतीविलसितं द्वित्रैः पदैः संहतं
तेषामप्युपरि स्फुरन्ति मतयः कस्यापि पुण्यात्मनः ॥’

— — —

१—सचमुच ही घर-घर में सुकवि पाए जाते हैं, किन्तु उनकी कविता का
समादर अधिक-से-अधिक उन्हीं के घर में हुआ करता है। इस दृष्टि से उनकी
कविता की तुलना किसी कुलाङ्गना से की जा सकती है जिसके गुण ज्यों-ज्यों
प्रकट होते जाते हैं, त्यों-त्यों घर में उसका गौरव बढ़ता जाता है। किन्तु वैसा
कुशल कवि तो कोई विरला ही होता है जिसकी सरस कविता सकल-कलामयी
वाराङ्गना की भाँति सभी रसिकों को समान रूप में रिफ़ा सके।

कालिदास का कल्पना-वैभव

जीवन तथा जगत् की अनुभूति सौन्दर्य की विशिष्ट भंगियों से अभिव्यक्त होकर 'काव्य' की आख्या ग्रहण करती है। काव्य जहाँ तक कला है, उसे सौन्दर्य-द्रवित अभिव्यक्ति की अनिवार्य अपेक्षा है; किन्तु जहाँ वह विशुद्ध प्रेरणा मात्र है वहाँ जीवन तथा जगत् की अनुभूति ही उसका सम्भव स्वरूप है। अनुभूति जैसे प्रकाश-राशि है और अभिव्यक्ति रंग-विरंगे काँच के टुकड़ों पर उसका विच्छुरण! और यहाँ यह कहना अनावश्यक ही होगा कि प्रकाश की तीव्रता की भाँति काँच की निर्मलता भी रंगों और उनके प्रभाव-विस्तार के लिए सहज काम्य है। दोनों के संयोग नहीं, सहयोग से ही, काव्य-कला का निखार सम्भव है।

अनुभूति वस्तु का भाव-रूप में परिपाक है। वस्तु जीवन से और जगत् से भी उत्क्रान्त होती है। यों तो जीवन जगत् के आवेष्टन से सर्वथा अछूता नहीं; किन्तु पंक से ऊपर उठे पंकज की भाँति वह जगत् की कँटीली डाल पर गिला हुआ पाटल प्रसून भी है। डाल से जितना पृथक् फूल हो सकता है, जीवन भी जगत् से। काव्य के उपादान के रूप में अनुभूति की अनिवार्यता अनुभूति के जीवन से और उससे जगत् के संश्लेष-विश्लेष पर ही निर्भर है।

कल्पना अनुभूति की निचली सतह है, उसे भी जीवन और जगत् की अपेक्षा है। वह इनसे नाता तोड़कर निराधार हो जाती है। कभी-कभी योग या इन्द्रजाल द्वारा निराधार स्थिति भी सम्भावित है पर वह टिकाऊ नहीं होती। टिकाऊपन के लिए गहरी नींव और ठोस आधार चाहिए—जीवन और जगत् वही हैं।

कल्पना अनुभूति की ऊँचाई को छू लेने का हौसला रखती है, पर यह आवश्यक व्यापार नहीं है। क्योंकि तब 'जानत तुमहिं तुमहिं है जाई' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दूध जमकर दही बन जाता है। कल्पना

की खाद से अनुभूति उजियाती है; हरी-भरी रहती है। यही उसकी सार्थकता है। यों गंगा को समुद्र से मिलने से कौन रोक सकता है? पर हाँ, तब वह रूप के साथ-साथ नाम बदल देने को भी विवश है।

‘निचली सतह’ का यह अर्थ नहीं कि जीवन और अनुभूति के बीच कल्पना का पीठ स्थापित है। नहीं, अनुभूति जीवन से सीधे सञ्चित हो सकती है। हाँ, यदि पंक और पंकज के बीच कल्लोलित जल की भाँति, शूल और फूल के दरम्यान डण्ठल के समान कल्पना की अन्विति अपेक्षित हो तो उसे अनुभूति का वाहन माना जा सकता है। सच तो यह कि कल्पना अनुभूति से जितनी अनुस्यूत होती है, उतनी ही अभिव्यक्ति से भी।

ऐन्द्रजालिक कल्पना कुछ दूसरे प्रकार की होती है। वह जीवन की यथार्थता से कुछ कटी-कटी रहती है। ‘फैंसी’ और ‘इमेजिनेशन’ में जो तात्त्विक विभेद होता है उसी की निष्कम्प छाया यथायथ कल्पना और कल्पित कल्पना के बीच एक रश्मि-रेखा खींचती है। कवि की प्रौढ़ि और कवि की प्रौढोक्ति में अन्तर है। अस्तु,

प्रस्तुत है कालिदास का कल्पना-वैभव। कालिदास की कल्पना जीवन की यथार्थता से प्रणोदित है, वह निरा वाग्विलास नहीं। इस जाति की कल्पना अनुभूति की उद्दीप्ति भर के लिए नहीं, अनुभूति के नित-नूतन आधार के लिए भी अपेक्षित है। ऐन्द्रजालिकता यहाँ नहीं हूँदी जा सकती। ऐसी कल्पना का भी यदि प्रवेश-निषेध के नियम से आवद्ध कर दिया जाय तो अनुभूति का अन्तःपुर ऐश्वर्यहीन हो जाय। निरे उद्गार से भी काव्य-कला कदाचित् उसी समृद्धि के कारण पृथक् है। विचारों की चारुता के कारण काव्य को कला कहने की परिपाटी यहाँ नहीं रही—तभी काव्य के रूप में महाभारत को स्वीकृति पहले नहीं मिली थी। सम्भवतः आनन्दवर्द्धन ने ही पहले-पहल प्रबन्धगत ध्यंग्य का सन्धान करते हुए महाभारत में शान्त रस की प्रधानता घोषित की।

भारतीय परम्परा में अलङ्कारों के माध्यम से ही कल्पना गृहीत हुई है, अन्यथा प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के स्थान में क्रमशः अनुभूति कल्पना तथा भावना की चर्चा नहीं पाई जाती। सो कल्पना शब्द से

कल्पना की रूपरेखा या विवेचना चाहे न प्रस्तुत की गई हो परन्तु कल्पना के वैभव से सारा साहित्य ओतप्रोत है, इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ?

फिर कालिदास को तो इस दिशा में चुनौती दी ही नहीं जा सकती। उनका मेघदूत कल्पना के मेरुदण्ड पर उसी प्रकार टिका हुआ है जिस प्रकार अक्षदण्ड पर ज्योतिश्चक्र। कुमारसम्भव में भी उत्प्रेक्षाओं, अतिशयोक्तियों की ऐसी धारा उमड़ी है जिसका सदियों तक अनुकरण होता रहा है। उदाहरण के लिए यह अतिशयोक्ति—

‘पुष्पं प्रवालपोहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।

ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥’

अर्थात् यदि लाल कोपल में कोई उजला फूल उग आए या मूँगे पर मोती जड़ जाए तभी वह पार्वती के लाल-लाल होंठों पर फैली हुई निर्मल मुसकान की नकल कर सकता है।

यह कालिदास की यथार्थता से उत्प्रेरित कल्पना का एक सुन्दर नमूना है। दो सदृश वस्तुओं की कल्पना के पट पर पार्वती के विम्बाधर पर फैली हुई उजलो-धुली मुसकान का सजीव चित्र आँखों के आगे खिंच जाता है। चित्र को चटकदार बनाने में सदृश, किन्तु यथार्थ वस्त्वन्तर की अप्राकृतिक स्थिति भव्य उपादान भर बन कर रह गई है, उसने चित्र को छेँक नहीं लिया है; ढँक नहीं दिया है। इसके विपरीत भाव के—

‘उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहामाकाशगंगापयसः पतेताम्।

ततोऽनुमोयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥’

इस श्लोक में अयथार्थ सदृश वस्त्वन्तर की असंभव स्थिति की कल्पना की गई है :—आकाशगंगा की दो धाराएँ यदि एक साथ आकाश में गिरें तो तमाल-नील कृष्ण के वक्षःस्थल पर भूलते हुए मुक्ताहार का अनुमान किया जा सकता है।

लाल कोपल पर उजले फूल का होना सहज चाहे न हो, असंभव नहीं है, इसी प्रकार मूँगे पर मोती का रहना भी है; किन्तु आकाश में आकाश-गंगा की दो धाराओं का एक साथ गिरना असंभव है और यह असंभवनीयता ‘न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेंगी’ की कोटि

तक पहुँच गई है। कालिदास की कल्पना से परवर्ती कवियों की कल्पना में यही विशिष्ट अन्तर है। कालिदासीय कल्पना सौन्दर्य की, आनन्द की सृष्टि करती है, पर अन्यान्य कवियों की कल्पना चमत्कार की, हल्के सुख की।

‘रघुवंश’ से एक कल्पना :—

‘स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्ठात्यवनावधूतः ।

अंगारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥’

प्रवाहित रक्त से नीचे की धूल सन कर दब गई। और, जो हवा से उड़ाई जाकर ऊपर छाई थी वह उस घड़ी कुछ ऐसी लग रही थी जैसे आग के सुलगने के समय का धुआँ ऊपर फैला हुआ हो और नीचे लाल-लाल अंगारे दहक रहे हों !

इन्दुमती को साथ लेकर जब अज अपनी राजधानी की ओर लौट रहे थे तो रास्ते में अभिमानी राजाओं ने उन्हें घेर लिया। फिर क्या था, लड़ाई छिड़ गई। उस समय पैदलों, घुड़सवारों, रथवालों के भिड़ने, जूझने, उलझने और टूट पड़ने से धूल का अन्धकार इस प्रकार छा गया कि कहीं कुछ सुभाई नहीं देता था। घायल घोड़े-हाथियों तथा योद्धाओं के शरीर से रक्त की धार उमड़ पड़ी; धूल कीचड़ में बदल गई—लाल कीचड़ में। उस रक्त-पंक के ऊपर पहले से आसमान में फैली हुई धूल को देख कर कालिदास जमीन पर जैसे दहकते अंगारों की कल्पना करते हैं जिनके सुलगने के समय का धुआँ हवा के सहारे आसमान में छितराया हुआ हो। कैसी सजीव कल्पना है ! पर इस सजीवता का रहस्य वस्तुगत यथायता में निहित है। चित्रवत् प्रतीति का कारण वास्तविकता की पूरी-अधूरी प्रत्यभिज्ञा ही है।

वस्तुचेतना की प्रांजलता के लिए एक कल्पना मेघदूत से—

‘रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्

वल्मीकाप्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते

वर्हेणैव स्फुरितरुचिना गोपवंशस्य विष्णोः ॥’

यक्ष मेघ का दात्य क लिए प्रेरित कर रहा है। वह भौंति-भौंति प्रकार की चाटूक्तियों द्वारा उसे अनुकूल बनाना चाहता है। उक्त

प्राच्यसाहित्य

पद्य में वह कह रहा है कि देखो तो सही, यहाँ सामने धूपवाले छोर से कैसा सुहावना इन्द्रधनुष निकलता आ रहा है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे बहुत सारे रत्नों की चमक-दमक मिली-जुली इकट्ठी हो गई हो। इसके भले-भले सजते ही तुम्हारा साँवरा-सलोना शरीर ऐसा खिल उठेगा जैसे मोर मुकुट पहने हुए साक्षात् श्यामसुन्दर हों !

प्रतिभा के इस ओर से उस छोर तक छाए रहने पर भी मैं ऐसी कल्पना को वस्तु सत्य से उत्थापित ही मानता हूँ। रत्नों की चमक-दमक वस्तु-सत्य है। सुरधनु के सात रंगों में उसकी घुली-मिली राशि होने की संभावना भी असत्य नहीं। सातों रंगों के संमिश्रण से जैसी नयनाभिरामता की संभावना है, रत्नों की वैसी ही सतरंगिनी कान्ति अभीप्सित है यहाँ। ऐसी ही मोरमुकुटधारी गोपाल कृष्ण की कल्पना भी है। वस्तुसत्य तथा प्रतिभोत्थापित सत्य का यह विभेद कालिदास की कल्पना में सर्वत्र उद्भासित है। उन्होंने आहार्य्य गुणों या शब्दसाम्य से संभाव्य कल्पनाओं की कृत्रिमता को कहीं प्रश्रय नहीं दिया है।

‘मालविकाग्निमित्र’ के एक दृश्य में संगीत छिड़ जाने की प्रतिक्रिया यों चित्रित हुई है—

‘जीमूतस्तनिताविशंकिभिर्मयूरै-

रुद्रग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।

निर्हादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था

मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥’

अर्थात् मृदंग की मन्द्र ध्वनि सुनते ही मोरों ने गर्दन ऊँची कर ली। उन्हें लगा, ‘गुरु-गुरु मेघ गुमरि-गुमरि गरजे गगने-गगने।’ सो उन्होंने भी केका-ध्वनि छेड़ दी। इस प्रकार केका-ध्वनि की प्रतिध्वनि भर कर मृदंग जब मध्य लय में मायूरी नामक गमक पर धमाधम धमकने लगा तब सब का मन मस्ती से भूमने-भीमने लगा।

यहाँ मृदंग की ध्वनि में मेघ-निर्घोष की सहज कल्पना की गई है जिससे मोरों के गर्दन उठा कर बोलने-नाचने की सम्भावना बढ़ गई है और जिस कारण गमक का मायूरी नाम सार्थक हो गया है, क्योंकि उसमें मन को मोर की भाँति नचाने की क्षमता विद्यमान है।

‘विक्रमोर्वशीय’ में कल्पना वहाँ पराकाष्ठा पर पहुँच गई है, जहाँ उर्वशी के वियोग में पुरुरवा विक्षिप्त हो गया है। वर्षा ऋतु की विशेषता पर वह कहता है कि देखो तो सही, यह बिजली के सोने से बना हुआ बादल मेरा छत्र हो रहा है; निचुल के पेड़ मेरे ऊपर मंजरियों के चँवर डुला रहे हैं; ऊँचे स्वर से बोलते हुए मोर मेरे चारण हैं और झरनों के मोती भेंट करते हुए पहाड़ प्रजाजन—

‘विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाग्रं
म्याधूयन्ते निचुलनरुभिर्मंजरोन्वामराणि ।
धर्मच्छेदात्पटुतरंगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः
धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ॥’

इसी प्रकार ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के एक छोटे-से अनुष्टुप् में भी यथार्थ कल्पना ने अपना ‘सुरसरि-सम सब के हित होई’ वैभव विस्तारा है—

‘मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य संभवः ।

न प्रभातरक्षं ज्योतिरुदेति वसुधातजात् ॥’

शाकुन्तला के, आँखों को चौंधिया देनेवाले, रूप का वर्णन है। राजा की आँखों में बिजली की कौंध से जैसे चकाचौंध पैदा हो रही है कि यह ऐसा रूप कैसे ! जब समाधान पा जाता है तो वह आत्म-विस्मय को ज्ञान के अहंकार से उच्छ्वसित कर देता है कि सोई तो कहूँ ! किसी मानुषी की कुक्षि से ऐसे रूप का उद्गम कैसे सम्भव है ! कहीं बिजली धरती से पैदा होती है !!

यहाँ कल्पना के सुनहले अंगारे-से वैभव को स्फुलिंगों में से देखने का उद्ग्रीव प्रयत्न किया गया है—चाँद-सूरज-से विराट्, अलौकिक और महान् प्रभामयों की चर्चा फिर.....



जयदेव का गीतिकाव्य

श्री जयदेव गीतिकाव्य के प्रवर्तको में परिगणित होते हैं। उनका प्रभाव मध्ययुग के हिन्दी-बँगला-कवियों पर सुस्पष्ट लक्षित होता है। संस्कृत के परवर्ती कवियों ने भी उनकी काव्य-धारा में अपनी वाग्धारा मिलाने का शतमुख प्रयत्न किया है जिसके परिणामस्वरूप गीत-गौरी-पति, गीतगङ्गाधर, गीतगिरिश, रामगीतगोविन्द आदि गीति-काव्यों के दर्शन होते हैं। अवश्य ये सब गीतगोविन्द के स्तर तक नहीं पहुँच पाए हैं।

चण्डीदास, विश्वपति, गोविन्ददास, सूरदास,—जैसे गीतिकवियों को भागवत तथा गीतगोविन्द ने साक्षात् या परम्परया प्रेरित किया है, यही इनकी सर्वोपरि विशेषता है। जयदेव के शिशिर आलोक-स्तम्भ के आस-पास इतने-इतने महाकवियों के प्राण, पतंग की भाँति मँडलाया किए, उनके गीतिकाव्य का इससे बड़ा माहात्म्य और क्या हो सकता है? गीतगोविन्द को भारत के एक बृहत् सम्प्रदाय ने प्रेमधर्म के आदर्श सूत्रग्रन्थ के समान ही सम्मानित किया है। गौड़ीय वैष्णव-धर्म के तो कई-एक सिद्धान्त जयदेव से ही लिए हुए हैं और वैष्णवजन गीतगोविन्द को भागवत का ही काव्य-भाष्य मानते हैं। अतः, हम यहाँ एक गीतिकाव्य के रूप में गीतगोविन्द की आलोचना करें।

गीतिकाव्य व्यक्ति दर्शन से अन्वित है। किन्तु इसका प्रसार असीम है। क्योंकि यह अनुभूति के इतने स्तरों का स्पर्श करता है जिनमें निरी व्यक्तिगत रुचियों से लेकर विराट् मानवता के उदात्त भावों तक को समेट लेने की क्षमता है। प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य में आशा-निराशा, सुख-दुःख, विरह-मिलन को वाणी मिलती है तो धर्म-प्रदान गीतिकाव्य में भक्ति-भावनाओं को। गीतगोविन्द प्रेम-धर्म का गीति-काव्य है अतः इसमें द्विविध भावोद्गारों को लक्ष्य किया जा सकता है।

गीतिकाव्य का मूल्याङ्कन अनुभूति तथा अभिव्यक्ति—दोनों पक्षों के सूक्ष्म परीक्षण का आग्रही है। जिस प्रकार एक सफल गीतिकाव्य की अनुभूति को सबल तथा सत्य होना चाहिए, उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति भी प्रतीकात्मक तथा प्राञ्जल भाषा की ही अपेक्षा नहीं करती; किन्तु उसे वस्तु तथा माध्यम में सम्पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करने में समर्थ होना चाहिए। जैसे संगीत में रसानुसारी राग तथा चित्र में भावानुकारी रंग का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में भा वस्तु के अनुरूप ही माध्यम का रूप वाञ्छनीय समझा जाता है।

यह सत्य है कि जयदेव के गीतिकाव्य की मधुर-कोमल-कान्त-पदावली तथा सङ्गीत-भक्तिमा ही प्रथम हमारा ध्यान आकृष्ट करती है; इनके रचना-कौशल से ही हृदय चमत्कृत-आनन्दित हो उठता है और भावों के प्रभाव-सन्धान की आर से असाधन रह जाने का हम हृदयहीनता नहीं, अतिरिक्त सहृदयता समझकर गौरव-बोध करते हैं; किन्तु इस आनन्द-प्राप्तन का कारण भाव तथा शिल्प में जयदेव का अपूर्व सामाञ्जस्य-स्थापन ही है।

‘पश्यति दिशि-दिशि रहसि भवन्तम्
तदधरमधुरमधूनि पिबन्तम्
नाथ हरे सीदति राधा वासगृहे ।
त्वदभिसरणरभसेन वलन्ती
पतति पदानि कियन्ति चलन्ती
भवति विलम्बिनि विगलितलज्जा
विलपति, रोदिति, वासकसज्जा !’

कृष्ण के पास जाकर सखी कहती है कि राधा लताकुञ्ज में व्याकुल हो रही, बिसूर रही है। वह इधर-उधर निर्जन में तुम्हें ही उत्सुक दृष्टि से निहारती है, फिर उत्साह से उमग कर अभिसार-पथ पर दौड़ग चलते-न-चलते लड़खड़ाने लगती है; वहीं पर ढेर हो जाती है। और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, उसका धीरज छूटने लगता है और तब वह अपने आपको नहीं सँभाल पाती है; रोने-कलपने लगती है।

प्राच्यसाहित्य

प्रस्तुत गीति-खण्ड भाव और शिल्प के अद्भुत सम्मिश्रण का सुन्दर निदर्शन है। इसमें शब्द और अर्थ, लय और छन्द की सापेक्ष कला देखते ही बनती है।

केवल कलाकार के रूप में भी जयदेव का कृतित्व असाधारण है। यही कारण है कि उनकी कलापटुता को ही अनेकशः उनकी कवि-प्रतिभा का सर्वस्व घोषित किया जाता है। कल्पना की प्रचुरता के साथ-साथ कलात्मक संयम, इने-गिने शब्दों में चित्राङ्कन की क्षमता, ध्वनि-वैचित्र्य, अर्थगौरव, पदलालित्य, और गीतिमाधुरी ने उनके काव्य को एक अपूर्व सौन्दर्य से महिमाम्बित कर दिया है—

‘ललित-लवंगलता-परिशोषनकोमलमलयसमीरे
मधुकर-निकर, करम्बित-कोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते
नृत्थति युवतिजनेन समं सखि, विरहिजनस्य दुरन्ते।
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलवकुलकलापे।
मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले
युवजनहृदयविदारणमनसिजनस्वरुचिकिशुकजाले।’

सखी, कोमल मलय पवन सुन्दर लवङ्गलताओं को मन्द-मन्द आन्दोलित कर रही है। अलियों के मञ्जुगुञ्जन तथा पुंस्कोकिलों के कलकूजन से कुञ्ज-कुटीर ध्वनि-प्रतिध्वनित हो रहा है। केवल विरहियों के लिए दुरन्त इस सरस वसन्त में कृष्ण ब्रजाङ्गनाओं के संग-संग वन-विहार कर रहे हैं।

एक ओर यह वसन्त जहाँ वियोगिनियों के विलाप से मुखरित है, वहाँ दूसरी ओर ठौर-ठौर भौरों से लिपटे मौलसिरी के फूलों से सुशोभित। इसमें कहीं तो तमाल की चटकती कलियों से कस्तूरी की-सी गन्ध उड़ रही है और कहीं टेसू के लाल-लाल फूल काम के उन बाँके-चोखे नाखूनों की याद दिला रहे हैं जो प्रेमियों के सुकुमार हृदयों में यों ही चुभ जाया करते हैं।

इस गीतिखण्ड में रचना-सौष्ठव अर्थगौरव को पीछे छोड़ता दिखता है। संस्कृत के श्रेष्ठ कवियों में भी अनुप्रास और यमक का लोभ पाया

जाता है; किन्तु जयदेव के शब्द-संगीत को कोई नहीं छूता । क्योंकि शब्द के अन्तर्लीन सौन्दर्य और माधुर्य की यह सृष्टि शब्दाढम्बर से सर्वथा मुक्त है ।

कलावैभव के सम्राट् होकर ही जयदेव नहीं चुक जाते । उनकी पद-साधना और संगीत-माधुरी अपूर्व-अनुपम होकर भी उनकी भावना, कल्पना और अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम ही है । उनकी भाव-वस्तु सहृदयों के हृदय में गगन-विहार करने के अभिप्राय से ही स्वर और छन्द के सुनहले-रूपहले पंख फड़काती हैं :—

वदसि यदि किञ्चिदपि दम्तरुचिकौमुदी
हरति दरतिभिरमतिघोरम्
स्फुरदधरसीधवे तव वदनचन्द्रमाः
रोचयति लोचनचकोरम् ।
प्रिये चारुशीले, मुञ्च मयि मानमनिदानम् ।
सपदि मदनानलो दहति मम मानसं
देहि मुखकमलमधुपानम् ।
सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
देहि खरनखरशरबातम्
घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम् ।
त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं
त्वमसि मम भव-जलाधि-रत्नम्
भवतु भवतीह मयि सततमनुरोधिनी
तत्र मम हृदयमतिरत्नम् । प्रिये०

जब तुम कुछ भी बोलती हो तो तुम्हारे दाँतों की चमक-चाँदनी मेरे भय रूपी घोर तिमिर को तत्काल हर लेती है और तुम्हारे मुँह का चन्दा फड़कते हुए अधर के मधु-मद के लिए मेरे नयन-चकोरों को ललचाने लगता है । ओ राधे, ओ शीलवती सुन्दरि, अरी ओ प्रिये, अब यह अकारण मान त्याग भी दो । देखती नहीं, प्रेम की आग मेरे तन-मन को जलाए दे रही है ! अब भी तो अपने मुख-कमल के मधु का पान करने दो ।

अरी ओ कुन्द-कली-से सुन्दर दाँतोंवाली, तुम यदि सचमुच ही नाराज हो तो अपने जी की जलन मिटाने के लिए मुझे कोई कड़ी-से-कड़ी सजा दे डालो—न हो, अपने तीखे नाखूनों के बाणों से बेध दो या भुजाओं में बाँध लो या दाँतों से कसकर काट लो या इससे भी बड़ी और कड़ी कोई सजा तुम्हें सूझे तो वह मुझे आँख मूँद कर दे डालो, किन्तु किसी भी तरह यह मान अवश्य त्याग दो ।

अरी, तुम तो मेरी शोभा हो, मेरी जिन्दगी हो, इस संसार सागर को मथकर निकाली हुई मणि हो और मैं भी तो, देखो न, सदा-सर्वदा इसी यज्ञ में लगा रहता हूँ कि तुम इस चिर-प्रणत निज जन को अपनी अपार कृपाओं से कृतार्थ करती रहो ।

यह रस-भाव-धारा निरे शिल्पी के कल्पित शब्द-तटों से नहीं बँध सकती । जयदेव के केन्द्रीय भाव वचन-रचना के बल से सबल नहीं हैं, प्रत्युत भावों के प्रभाव से ही शब्द-शिल्प संप्राप्त है । उस प्रीति-प्रतीति और सौन्दर्य-माधुर्य के कवि ने अपनी तन्मय अनुभूति को ही कल्पनाओं से पल्लवित किया है ।

जयदेव का गीति-काव्य न तो इष्टदेव के लीला-विलास को अलौकिक आलोक देता है और न सामान्य नर-नारी की लालसा का ही शृंगार करता है, बल्कि वह तो अलौकिक लीला और लौकिक प्रेम का ऐसा चित्राधार है जिसे कवि की कल्पना और अनुभूति ने अपने रस और रंग से रचे चित्रों से सजाया है । इसलिए वह अलौकिक और लौकिक दोनों है । वह प्रेम-गीत भी है और भक्ति-संगीत भी । उसमें वर्णित राधाकृष्ण के चिरन्तन प्रेम में नित्य-नूतनता भी इसलिए है, क्योंकि कवि ने उसमें अपने सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा की द्रवित अनुभूति का अमृत मिश्रित कर दिया जाता है । 'यही यथार्थ और कल्पना का संयोग, ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय का मिश्रभाव गीतगोविन्द की केन्द्रीय काव्य-वस्तु है ।'

—हरेकृष्ण मुखोपाध्याय

जो लोग जीवन की सम्पूर्णता से विच्छिन्न कर धर्म को निरपेक्ष रूप में देखने के अभ्यासी हैं उनके लिए पाप-ताप-पूर्ण जीवन का कृश-मलिन रूप ही सब-कुछ है । वस्तुतः जीवन का राग अनेक भावों में उपलब्ध होता है । भाव का और कल्पना का सौन्दर्य, माधुर्य और

शिवत्व का राग जीवन के अनेक स्तरों को रञ्जित करता है, इस सत्य से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं; किन्तु इसीलिए यह सूक्ष्म अनुभूति से साक्षात्कृत सत्य अपनी सत्ता नहीं खो सकता। रस-राग-हीन नीति-बोध जीवन का हठयोग ही है। प्रवृत्तियों के आवेग के बीच शान्ति-साधना जीवन को सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध करना है। जयदेव का गीतिकाव्य इसी क्षितिज का सङ्गीतात्मक आह्वान है—

रति-सुख-सारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम्
न कुरु नितम्बिनि गमन-विलम्बनमनुसर तं हृदयेशम्
धीर-समीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली
गोपीपीनपयोधर - मर्दन - चंचल - करयुगशाली ।
नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेषुम्
बहु मनुते तनुते तनुसंगतपवनचलितमपि रेषुम् ।
पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम्
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम् ।
मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं रिपुमिवकेलिषु लोलम्
चल सखि, कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलय नीलनिचोलम् ।

यह रति-सुख तब सुरति-सुख का संकेत बन जाता है। आत्मा का परमात्मा के लिए यह अभिसार तब जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में प्रतीत होता है। और अहङ्कार का तमोगुणी चोल-निचोल तब साँप के जीर्ण केंचुल की तरह आप उतर जाता है और भुक्ति-मुक्ति प्रगाढ़ आलिङ्गन में बँध जाती हैं। जयदेव का गीतिकाव्य इसी महाभाव का सचित्र संगीत है।

— — —

संस्कृत-साहित्य में नारी

संस्कृत-साहित्य सामान्यतः जिन दो भागों में विभक्त है, उन्हें वैदिक तथा लौकिक कहा जाता है। यह विभाजन मूल प्रकृति पर ही आधारित है। वैदिक साहित्य में भी नारी-चरित का अभाव नहीं है पर वह दैवी-चरित अधिक है, मानवी-चरित कम।

भारतीय विचारधारा नर-नारी को पुरुष-प्रकृति के रूप में निरूपित करती है। पुरुष को निर्गुण तथा प्रकृति को त्रिगुणात्मिका मानती है। माया और मायी के आध्यात्मिक प्रयोग के अतिरिक्त शिव-शक्ति का रूपक भी प्रचलित है जिसके अनुसार शक्ति-युक्त शिव ही सृष्टि की सामर्थ्य रखता है, अन्यथा शक्ति-निरपेक्ष होकर तो वह तनिक स्पन्दित भी नहीं हो सकता है।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः स्थान-स्थान पर सत्व, रजस् और तमस्—तीनों गुणों को चित्रित किया गया है। नारी-चरित्र में देवत्व, मनुष्यत्व और पशुत्व के शत-शत निदर्शन प्रस्तुत हुए हैं। अवश्य ही संस्कृत-साहित्य के आदर्शवादी होने के कारण अनुदात्त भावों को उसमें कम-से-कम प्रश्रय मिला है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी मूल प्रकृति में धर्म को प्रतिष्ठित करने के अभिप्राय से भी अधर्म नहीं उल्लिखित हुआ है। मूलतः यथार्थ के नाम पर पशुत्व चित्रित होता है, किन्तु संस्कृत में आदर्शहीन यथार्थ कदाचित् ही कहीं स्थान पा सका होगा। मन्थरा और शूर्पणखा की साभिप्राय सृष्टि को कौन अन्यथा दृष्टि से देखेगा? इतना ही नहीं सात्विक पक्ष में शकुन्तला के साथ मिराण्डा की चाहे तुलना सम्भव भी हो; किन्तु तामस पक्ष में लेडी मैकबेथ के साथ पाञ्चाली का नाम नहीं लिया जा सकता। संस्कृत-साहित्य में पशु-प्रवृत्तियाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह की तीव्रता में ही नहीं पर्यवसित हो जाती, अपितु प्रायः उनका उन्नयन दया, दक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि में होता देखा जाता है।

नारी को साहित्य में राग और विराग—दोनों ही दृष्टियों से देखा जाता रहा है। नारी को देखने की अवश्य यह निर्वैयक्तिक दृष्टि नहीं हो सकती। राग और विराग के पूर्वाग्रह से दूषित दृष्टि कदापि वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। यह ठीक है कि किसी भी युग या समाज में नारी की जो अवस्था होती है उसी का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य पर पड़ता है और यह भी कि सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक कारणों से सदा नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ करता है, किन्तु मैं विश्वासपूर्वक यह कह सकता हूँ कि हिन्दी के सन्तयुग और रीतियुग की भाँति संस्कृत-साहित्य में नारी-सम्बन्धी एकाङ्गी दृष्टिकोण उसके ह्रासकाल में ही उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य का निर्माण पूर्ण धार्मिक वातावरण में हुआ है; किन्तु उसमें भी नारी को नरक का द्वार कहीं नहीं कहा गया है। इतना ही नहीं, उसमें नारी-रूप तथा नारी-सौन्दर्य के प्रति अनुरागात्मक दृष्टि ही अपनाई गई है। नारी कामना का प्रतीक हो सकती है; किन्तु धर्म से अविरोध काम को तो स्वयं भगवान् ने अपना प्रतीक माना है। इस प्रकार यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि नारी-निन्दा या उसका आत्यन्तिक परिहार किसी भी धर्म की प्रौढ़ि का परिचायक नहीं हो सकता। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के समन्वय में ही धर्म का चरम विकास देखा जा सकता है। वैदिक साहित्य में उसी का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है।

रामायण-काल में तो नारी साहित्य-साधना के सप्तम शिखर पर आरूढ़ दीख पड़ती है। आदि कवि ने सीता को जिस साँचे में ढाला है, वह अपने आपमें अतुल है। विश्व-साहित्य में उसकी तुलना में कोई लेखनी या तूलिका नहीं प्राप्त होती है।

पौराणिक युग सर्वाधिक रूढ़ियों का स्तम्भ रहा है; किन्तु उसका अभिप्राय वर्णाश्रम के आधार पर समाज का निर्माण और विकास करना था जिसका सुस्पष्ट प्रभाव रामायण पर पड़ा है। यों कहे, वैदिक-पौराणिक देवी-देवताओं के स्थान में मानव और मानवता को प्रतिष्ठित करनेवाले रामायण-महाभारत-जैसे महान् ग्रन्थों का नाम कुछ महिमामयी नारियों का तेजोमय चरित्र प्रस्तुत करने के कारण भी है।

प्राच्यसाहित्य

इनके क्रान्तिमय चरित्रों से हमारी भावी संस्कृति पूरी तरह प्रभावित हुई है। राम के वन-गमन-काल में सीता ने किन शब्दों में अपना अधिकार जतलाया था—

‘भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघवः ।
अप्रतस्ते गमिष्यामि मृदूनन्ती कुशकण्टकन् ॥’

यह पतिव्रत-पालन मात्र नहीं, विद्रोही नारीत्व भी है जिसमें सच्चे अर्थ में जीवनसङ्गिनी होने की प्रत्यक्ष क्षमता है।

इसी प्रकार हनूमान् के फिर-फिर अनुरोध करने पर भी वह न चुपचाप उनकी पीठ पर लद कर राम के पाम भटपट पहुँच जाना चाहती है और न यही चाहती है कि प्रबल-पराक्रमी हनूमान् अकेले ही सभी निशाचरों का नाश कर दें। वह कहती है कि राम पूरे-दलबल के साथ लङ्का आएँ, घमासान युद्ध कर रावण को परास्त करें और तब विजय-वैजयन्ती फहराते हुए मुझे अयोध्या वापस ले चलें, यही उनके, उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप होगा :—

‘बलैः समग्रैः यदि मां रावणं जित्य संयुगे ।
विजयी स्वपुरं यायात् तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥
बलैस्तु संकुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः ।
मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥’

और सतीत्व, स्वाभिमान तथा महत्त्व के तेज से हृष्ट सीता के इस उदात्त नारीत्व का अभिमानी तो समग्र संस्कृत साहित्य है :—

[लङ्का-विजय के पश्चात् राम ने राक्षस-गृह-प्रवासिनी सीता के शङ्कनीय सतीत्व से विचलित होकर आक्रोश तथा क्षोभ से काँपते हुए शब्दों में जो कुलिश-कठोर वचन कहे, उसके प्रत्युत्तर में अन्तर में वज्र और विद्युत्-भरे मेघमाला-सी सीता बरस पड़ीं—]

‘किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम् ।
रुद्धं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव ॥
न तथाऽस्मि महाबाहो यथा मामवगच्छसि ।
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्र्येणैव ते शपे ॥’

वह कहती है :—“जैसे नीच जाति के पुरुष अपनी ही-सी साधारण स्त्री से रखे वचन कहते हैं, वैसे ही कठोर और दारुण वचन आप मुझे क्या सुना रहे हैं ? मैं वैसी नहीं हूँ, जैसी आप मुझे समझ रहे हैं । अपने चरित्र की शपथ खा कर आप से कहती हूँ, आप मेरी बात पर विश्वास कीजिए !

“आप ऐसी-वैसी नीच प्रकृति की स्त्रियोंकी चाल देख कर समूची स्त्री-जाति के बारे में आशङ्का कर रहे हैं; किन्तु यदि आपने परीक्षा करके मुझे जाँच लिया है तो इस निर्मूल शङ्का को सर्वथा त्याग दीजिए !”

इस प्रसंग को पढ़कर स्व० डी० एल० राय महोदय ने लिखा है—
“मुझे आशा नहीं थी कि कई हजार वर्ष पहले ऐसी बातें किसी नारी के मुख से सुनने का मिलेंगी । सांचने से शरीर पुलकित हो उठता है, रुधिर गर्म हो उठता है और गर्व से छाती फूल जाती है कि उस आर्ययुग में हमारे ही देश में एक कवि ने सतीत्व के इस तेज, आत्मा-भिमान और महत्त्व की कल्पना की थी । मालूम नहीं—प्रेम की ऐसी अशरीरिणी प्रशुद्धि और ऐसी आध्यात्मिकता की कल्पना इस तरह से और भी किसी ने किसी भी काव्य में की है या नहीं । यहाँ पर सीता के प्रभाव के आगे राम तक लुप्त देख पड़ते हैं !”

कालिदास के शकुन्तला-प्रत्याख्यान में नारी का तेज कुछ इसी प्रकार प्रज्वलित हुआ है । लज्जा, रोष और आक्रोश से उदीप्त शकुन्तला की वाणी में कितनी दीप्ति है !—

“अनाय्य, तुम अपने हृदय के अनुरूप ही सब को देखते हो ? धर्म का ढोंग करनेवाले तुम घास से ढंके हुए कुएँ के समान हो ! तुम्हारे समान भला और कौन होगा ?

“तुम्हारा अनाप-सनाप बकना ही आप वचन है ? धर्म की मर्यादा तुम्हीं जानते हो और लजवन्ती कुल-ललनाएँ कुछ भी नहीं जानती ?”

व्यासदेव की महाभारत में ऐसे प्रसंगों की भरमार है । प्रतिशोध की जलती मशाल-सी द्रौपदी तो तथाकथित अबलात्व के मिथ्या आरोप को खुली चुनौती ही है । कृष्ण जब दुर्योधन की राजसभा में सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाने लगे तो वह बाएँ हाथ से खुले केशों के एक

प्राच्यसाहित्य

गुच्छे को पकड़ कर आँसुओं से ढलबल आँखों से उन्हें देखते हुए कहने लगी :—

‘अयं ते पुण्डरीकाक्ष, दुःशासनकरोद्धतः ।
स्मृतं वयः सर्वकार्येषु परेषां सन्निभिच्छ्रुता ॥’

×

×

×

‘दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांशुगुण्ठितम् ।
यद्यहं तु न पश्यामि, का शान्तिर्हृदयस्य मे ?’

भारवि और भट्टनारायण ने इसी द्रौपदी का चरित्र चित्रित किया है। विद्रोहिणी नारी का यह तेज सदियों से मूक-भाष, शेष-श्वास नारी-सम्माज की चिरविस्मृत आत्म-प्रज्ञा को सहसा प्रदीप्त कर सकने की आज भी अपूर्व शक्ति रखता है। वनवास और गुप्तवास में भी मस्त रहनेवाले युधिष्ठिर को अधिक्षिप्त करती हुई वह कहती है—

‘भवन्तमेतर्हि मनस्विगार्हिते विवर्तमानं नरदेव बर्त्मनि ।
कथं न मन्युज्वल्यत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवार्गुरुच्छिखः ॥
व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि ग्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवेषवः ॥
पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वन्ते रतिं निराभया हन्त हता मनस्विता ॥’

रामायण और महाभारत संस्कृत-साहित्य के दो ऐसे महान् स्तम्भ हैं, जिन पर मध्ययुगीन कविता की ऊँची-से-ऊँची अट्टालिकाएँ खड़ी हुई हैं। अधिकांश काव्य-नाटकों के चित्र-चरित्र इन्हीं ग्रन्थों से लिए गए हैं। इन्हीं की नारियों ने नए-नए परिधान बदलकर नए-नए कवियों और नाटककारों की प्रतिभा-प्रदीप्त भाव-भूमियों में प्रवेश किया है।

महाभारत की शकुन्तला ने कालिदास से नए प्राण पाए हैं और वाल्मीकि की सीता को भवभूति ने अपार्थिव प्रेम के हेममय साँचे में ढाला है। ऐसे ही कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, तारा, गान्धारी, कुन्ती, सुभद्रा आदि नारी-चरित्रों को नई-नई तूलिकाओं ने नए-नए ढङ्ग से फिर-फिर चित्रित किया है। सर्वत्र एक बात लक्ष्य करने की रही है कि

अठहत्तर

बहिरन्तर्द्वन्द्वों की बहुशः विभिन्नताओं के बावजूद वह सर्वत्र मर्यादित ही रही हैं।

विलासकलावती नारियों के चित्रण की भी एक परम्परा रही है; किन्तु वह प्राकृत काव्यों से प्रभावित होने का ही परिणाम है। नायिका-भेद की कल्पना चाहे जितनी पुरानी हो उसका छिछला रूप संस्कृत के ह्रास-काल में ही देखा जा सकता है। आर्य संस्कृति के सङ्कटकाल में वह आदर्श ढहने लगा था जिसके कारण संस्कृत-साहित्य विश्व-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। और तो और, प्रेम का आदर्श सीता पर यों केन्द्रित हो गया था कि किसी भी महाकवि ने राधा के प्रेम पर कलम नहीं चलाई। गीतगोविन्द तो संस्कृत भाषा के ह्रास-काल की रचना है जो अपनी सङ्गीतमयता के लिए अधिक लोकप्रिय हुई। इस प्रकार नारी की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का चित्रण तो हुआ है, पर संस्कृत-साहित्य में नारी अपने महान् आदर्शों के कारण ही महार्घ है।



संस्कृत काव्य-नाटकों में व्यङ्ग्य

श्रेष्ठ कविता की प्रवृत्तियों में नाटकीय, दुःस्वान्त तथा धार्मिक के साथ व्यङ्ग्यात्मक प्रवृत्ति भी परिगणित होती है। संस्कृत के काकु, वक्रोक्ति, हास्य आदि के समानार्थक, सटायर, ह्यूमर, फन, विट, आयरनी अथवा लैपून, इन्वेक्टिव, वरलेस्क, मॉक हिरोइक चाहे न हों पर काव्य-प्रकार में व्यङ्ग्य-प्रवृत्ति के तेजस्वी निदर्शन संस्कृत में उपलब्ध होते हैं।

व्यङ्ग्य के मूल में प्रायः विनोद-वृत्ति रहती है। ऐसा न हो तो वह बोली-ठोली से दूर कटाक्ष एवं निष्ठुर आक्षेप में परिवर्तित होता चला जाता है। काव्यात्मक सीमा का अतिक्रमण करने पर तो उसकी विरूपता गाली-गलौज में बदल जाती है। 'शिशुपालवध' के पन्द्रहवें सर्ग में कांपकुमुम को विकसिन करते हुए सनीर नीरद-से गम्भीर स्वर से शिशुपाल ने जो कुछ कहा है वह वीर काव्य की परिधि में रहने के कारण ही वर्जनीय नहीं है। जैसे भाष्म के प्रति उसकी यह आक्षेपोक्ति :—

‘अवनीभृतां त्वमपहाय गणमतिजडः समुज्जतम् ।

नीचि नियतमिह यच्चपलो निरतः स्फुटं भवसि निम्नगा-सुतः !’

परले सिरों का मूरख और जल्दवाज हैं तू भाष्म, कि जो बड़े-बड़े राजाओं को छोड़कर इस नीच कृष्ण पर अपनी श्रद्धा उँडेल रहा है : आखिर तू ने ‘निम्नगा’ का लड़का होना सिद्ध ही कर दिखलाया !

किन्तु इस प्रकार सीधी-पैनी चोट किए बिना ही जहाँ आक्षेप किया जाता है वहाँ व्यङ्ग्य का वास्तविक रूप निखरता है। जैसे ‘वेणीसंहार’ में आत्मश्लाघा में तन्मय कर्ण के प्रति अश्वत्थामा की यह उक्ति :—

‘अङ्गराज सेनापते, जामदग्न्य-शिष्य, द्रोणोपहासिन् भुजबलपरिरक्षित-सकल-लोक, रक्षैनं साम्प्रतं भीमाद् दुःशासनम् ।’

संस्कृत काव्य-नाटकों में व्यङ्ग्य

यहाँ एक-एक विशेषण कर्ण के व्यक्तित्व को खुली चुनौती दे रहा है; उसके मिथ्याभिमान की धजियाँ उड़ा रहा है; पर कहीं उपहास-गर्भ व्यङ्ग्य की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया जा रहा है। रस से लबालब अंगूर की पारदर्शी पर्त नहीं उतारी जा रही है।

‘मुद्राराक्षस’ में इससे अधिक सधे कटु-मधु शब्दों में चञ्चला लक्ष्मी पर व्यङ्ग्य कसा गया है :—

‘पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजाः भूमिपतयः
पति पापे मौख्यं यदसि कुलहीनं वृत्तवती ?
प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखो ॥’

यहाँ राक्षस की पराजित बुद्धि का आक्रोश अद्भुत है। आरंभ की दो पंक्तियों का कटु उपालम्भ क्रमशः घुलता हुआ उत्तरार्ध में द्रवित व्यङ्ग्य बन गया है। सम्पूर्ण नारी जाति की प्रज्ञा की समीक्षा में करुण विनोद-वृत्ति अत्यन्त मार्मिक है।

वेदना फूटकर निर्वेद बन जा सकती है, पर यह गहन व्यङ्ग्य तब प्राणों में पैठ जाता है जब दुःख की कठोरता पिघलकर मुसकिरा देती है :—

‘दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेव—
मम्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा ।
विपश्चदेहे मयि मन्दभाग्ये
ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि स्वम् ?’

‘मृच्छकटिक’ में चारुदत्त के आँसू हँसते हैं :—‘भाई दारिद्र्य, मुझे तेरा ही सोच स्नाए डालता है कि तू इतने दिनों तक सच्चे दोस्त की तरह मेरे साथ रहा; कभी क्षणभर के लिए भी मुझे अकेला न छोड़ा, पर तब जब मैं न रहूँगा, तू कहाँ जायगा ? मुझे इसकी बड़ी चिन्ता है।

हृदय की पीड़ा बढ़ कर आँखों की बाढ़ बन कर उमड़ पड़ती है, ऐसी कि व्याकुलता भी व्याकुल हो उठती है, यह मुसकान उस घड़ी की नहीं है। यह तो होंठों से हलाहल का प्याला लगाए, नियति की ज्वाला से जलते हुए जीवन की मुसकान है; समाधि-दीप की बुझती हुई लौ-सा रिसता हुआ व्यङ्ग्य।

प्राच्यसाहित्य

संस्कृत के भाण और प्रहसन व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं सही, पर वे वाल्टेयर या स्वीफ्ट, ड्राइडन या पोप को नहीं पाते। चेमेन्द्र की 'समय-मातृका' अलबत्ता एक ऐसी अकेली काव्य-कृति है जो व्यंग्य के सभी सम्भव प्रकारों से भरी-पूरी है। व्यङ्ग्य-कवि के रूप में चेमेन्द्र बेजोड़ हैं।

यों तो रसना का स्वाद बदलने के लिए समय-समय पर लगभग सभी कवियों ने व्यङ्ग्य की आवश्यकता का अनुभव किया है और कोई हठ ठान ले तो अश्वघोष से भी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत कर सकता है, पर जैसे 'ऐज़ यू लाइक इट' में शेक्सपियर की व्यंग्य-प्रवृत्ति किंचित उभर आई है, उसी प्रकार मालविकाग्निमित्र और शकुन्तला में कालिदास की व्यंग्य-प्रतिभा छिपाए नहीं छिपती।

दुष्यन्त का नारी-प्रकृति पर यह व्यंग्य बहुत ही चुटीला बन पड़ा है :—

‘स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां

संश्रयते किमुत याः परिबोधवत्यः ।

प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-

मन्यद्द्विजैः परभृताः किल पोषयन्ति ॥’

मानवेतर प्राणियों की मादा भी चालाक देखी जाती है जिसे कहीं चालाकी की तालीम नहीं दी जाती। यह उसकी सहज प्रकृति ही कही जा सकती है। फिर जो मन और मस्तिष्क के सहारे, बुद्धि और बोध के द्वारा संचालित मानवी है उसके प्रत्युत्पन्नमतित्व का क्या कहना ? कहने को काली कोयल भोलीभाली मीठी बोली बोलनेवाली चिड़िया है, पर चालाक कितनी कि उड़ान भरने से पहले, अपने बच्चों की देखभाल कौओं से करवाती है !

इसी प्रकार ऋषिकुमार का वह अधिक्षेप-वचन जिसमें राजा और राजनीति की मर्यादा को चीथ कर रख दिया गया है, व्यङ्ग्य का उत्कृष्ट उदाहरण है :—

‘प्राजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यः

तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।

परामिसन्धानमधीयते यै—

विद्येति ते सन्तु किंजासवाचः ॥’

जिसने जन्म से अब तक शठता का नाम भी न सुना हो उसके कहे हुए पर कान न दिया जाय ! उसकी सचाई को देढ़ी मुसकान से तराश दिया जाय और उसके तरतीबवार भावोद्गार को अनर्गल प्रलाप करार दिया जाय ! और दूसरी ओर तालीम और हुनर के नाम पर राजनीति और राज-विद्या कहकर जिसने दूसरों को ठगने का सबक सीखा हो— उसकी ऐसी-वैसी कैसी भी बात को आप्त-वचन समझा जाय; वेद-वाक्य मानकर शिरोमाल्य बना दिया जाय,—यह तो ठीक है न !

गम्भीर प्रकृति के कवियों में कालिदास ही व्यंग्य-प्रकृति की गहराइयों में उतरे हों ऐसा नहीं,—भारवि या माघ या श्रीहर्ष—कोई भी तो कोरा नहीं दिखता ! यह है कि उर्दू के गालिव और मीर की कोटि के व्यंग्य तो इनमें मिल सकते हैं, पर अकबर (इलाहाबादी) की तरह का खालिस व्यंग्यकार इनमें से कोई नहीं है । यों राजशेखर का 'कर्पूरमञ्जरी' में कौल-धर्म पर अच्छा व्यंग्य है और भाणों, प्रहसनों को छोड़ भी दें तो 'चेमेन्द्र' को संस्कृत का 'पोप' या 'अकबर' कह सकते हैं । निराला के अधिकांश व्यंग्य उस जाति के हैं जिनका प्रयोग कालिदास के विदूषक करते हैं । चुटकी काट लेने से बढ़कर चोट करने की चाह उन्हें नहीं होती । रवीन्द्रनाथ की 'चिर-कुमार-सभा' विशुद्ध व्यंग्य-कृति है—ऐसी कोई भी एक रचना प्राचीन 'समय-मातृका' के अतिरिक्त मेरे देखने में नहीं आई । नवीन व्यंग्यकृतियों में स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा का 'मुद्गरदूतम्' अपना सानी नहीं रखता । मैंने भी 'बन्दीमन्दिरम्' ऐसे काव्य तथा 'खलाष्टकम्'—ऐसे मुक्तकों में व्यङ्ग्य-प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया है ।

संस्कृत के रसवादी कवियों से नई शैली के व्यंग्यों की नहीं अपेक्षा की जा सकती । उन्हें अमर्ष, असूया आदि संचारियों में, 'काकाक्षिप्त' नाम के गुणीभूत व्यंग्य में, काकु के वैशिष्ट्य से वाच्य की व्यञ्जकता में, अविबक्षितवाच्य ध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य नामक भेद में ढूँढ़ा और ढूँढ़कर पाया जा सकता है । बेणीसंहार, मृच्छकटिक, मुद्रा-राक्षस पूर्वोक्त प्रकार के व्यंग्यों से ओत-प्रोत हैं । व्यक्तिगत रूप से मुझे कालिदास के व्यंग्य बहुत जँचते हैं, ये गुदगुदाते हैं, रुलाते भी हैं—पर भरसक कड़वापन नहीं आने देते । अधिकांश कवि सीमा का

प्राच्यसाहित्य

उल्लंघन कर जाते हैं जिस कारण उनके व्यंग्य खीझ-फट्टाहट से भरे, भड़े और भोड़े हो गए हैं। कालिदास के—‘एष तेऽनुकूलो गलहस्तः’ अथवा ‘अलं वामन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन’ अथवा ‘मुष्टं प्रतिग्राह्यता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन’ आदि एक से बढ़कर एक व्यंग्य के सफल-सबल निदर्शन हैं। यह सौष्ठव और कहीं नहीं।

‘वेणीसंहार’ नाटक में भीम की उक्ति है :—

‘तथाभूतां हृष्टा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरु खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥’

इसमें ‘काकु’ के द्वारा, धर्मराज का मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं है, यही बताया गया है। इसी प्रकार—

‘उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदशमेव सदा सखे
सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥’

‘अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य’—नामक लक्षणा-मूलक ध्वनि है इसमें। अपकार-कारी दुर्जन के प्रति यह सौम्यभाव-प्रदर्शन उसके अपकार एवं दुर्जनता की चरम सीमा की उद्घोषणा करता है।

कालिदासवाले व्यंग्यों से तुलना करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि ये ‘टेकनिकल’ अधिक हैं—उस नैसर्गिक व्यङ्ग्य-तरङ्गित भावाभिव्यक्ति के दर्शन दुर्लभ है यहाँ। कालिदास की अभिव्यञ्जना का प्रत्येक उपकरण सहज है।

इस प्रसङ्ग में ‘वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा’ जैसी भर्तृहरि की व्यङ्ग्योक्ति भी विस्मरणीय नहीं है। उनके तीनों शतकों में व्यङ्ग्य-वृत्ति का आभास मिलता है। राजा और राजनीति पर, मूर्ख और विद्वान् पर, वासना और वैराग्य पर उन्होंने विविध प्रकार के व्यंग्य किए हैं। ‘यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता’ हो या ‘ज्ञानलवदुर्विदग्धं

चौरासी

ब्रह्मापि तं नरं नरञ्जयति' अथवा 'विद्वांसो वसुधातले परवचश्श्लाघासु वाचंयमा' :—सर्वत्र पैने और नुकीले व्यङ्ग्य भर्तृहरि ने चुभोए हैं ।

पण्डितराज के व्यंग्य उनके दर्प से स्फीत हैं । अन्योक्ति-पद्धति में उनकी व्यंग्योक्तियाँ झकझोर डालनेवाली हैं । 'दिगन्ते श्रूयन्ते'—ऐसे पद्यों में सीधी चोट है और 'एकस्त्वं गहनेऽस्मिन् कोकिल न कलं कदाचिदपि कुर्याः ; साजात्यशङ्कयाऽमी न त्वां निघ्नन्ति निर्दयाः काकाः'—ऐसों में दाव-पेंच के साथ । पण्डितराज उस हद तक आक्षिप्त-अधिक्षिप्त होकर भी यदि व्यंग्यकार न होते तो यह मनोवैज्ञानिक आश्चर्य का विषय होता । सच तो यह कि ऐसी-ऐसी ग्रन्थियों के कारण ही इन महाकवियों का मन पूर्व-ग्रहगृहीत-सा बोझिल हो गया है जभी कालिदास का लावण महार्घ है । और, आदिकवि के—'नासौ संकुचितः पंथा येन वाली दिवं गतः'—सा व्यंग्य तो किसी भी भाषा के काव्य-साहित्य का चूड़ा-रत्न होगा । संस्कृत काव्य में व्यंग्य का तो वह निरूपम निदर्शन है—संक्षिप्त, सारगर्भ, सरल पर नुकीला !

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

माघ जिस प्रकार के कवि हैं उनकी तुलना भट्टि, भारवि, मुरारि एवं भवभूति से की जा सकती है; ऐसा साम्य या वैषम्य का प्रदर्शन प्रायः तुल्यबल होगा। यद्यपि भट्टि एक सिरे पर और भवभूति दूसरे सिरे पर हैं; भट्टि अधिक वैयाकरण और भवभूति अधिक कवि हैं तथापि ये सब एक ही परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्राचीन-काल में सूक्तियों के रूप में एक प्रकार की आलोचना प्रचलित थी; इन कवियों को मिला-जुलाकर वैसी कितनी ही सूक्तियाँ रची गई थीं जिनका संस्कृत के पण्डितों के बीच आज भी प्रचार है—

- (क) मुरारि-पद-चिन्ता चेत् तदा माघे रतिं कुरु;
- (ख) भवभूतिमनादित्य मुरारिमुररीकुरु;
- (ग) तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः;
- (घ) माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते;
- (ङ) माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे;
- (च) पुष्पेषु चम्पा, नगरीषु काशी, नारीषु रम्भा, पुरुषेषु विष्णुः;
नदीषु गङ्गा, नृपतौ च रामः, काम्येषु माघः कवि कालिदासः; इत्यादि।

ऐसी ही अनेकानेक सूक्ति-समीक्षाओं में से प्रस्तुत विवेचनीय सूक्ति—‘माघे सन्ति त्रयो गुणाः’ भी है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

‘उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥’

अर्थात् जहाँ कालिदास का विशिष्ट गुण चोखी-अनोखी उपमाओं का प्रयोग है; भारवि का अर्थगौरव और दण्डी का पदलालित्य है वहाँ माघ में ये तीनों ही गुण पाये जाते हैं।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

अवश्य मैं इस सूक्ति का यह अर्थ नहीं मानता । मैं अपने मौलिक अर्थ की चर्चा आगे चलकर करूँगा । यहाँ प्रसङ्गप्राप्त है इस सूक्ति की समीक्षा या संघटन । सो कालिदास की उपमाएँ विश्वविख्यात हैं, भारवि के अर्थगौरव के विषय में भी दो मत नहीं और दण्डी का पदलालित्य भी ठीक है, पर माघ में इन तीनों गुणों का किस अनुपात में, किस सीमा तक संक्रमण हुआ है इसके विवेचन की पृष्ठभूमि कालिदास, भारवि और दण्डी के कृत्तित्व के साथ तुलना ही हो सकती है ।

कालिदास की काव्यकला की त्वचा-सी लगती हैं उनकी उपमाएँ । मानता हूँ, अमूर्त भावनाओं को मूर्त और मूर्त को मार्मिक बनाने का उपकरण बन गई हैं वे । प्रकृति और मानव-प्रकृति में तीव्र रागात्मक साहचर्य : कालिदास की उपमाओं की सार्थकता है ।

फिर उनकी उपमाओं का उत्स प्रकृति के सम्पूर्ण ऐश्वर्य और जीवन की निःशेष अनुभूतियों के भीतर है, अतः उनमें जो नवीनता और विविधता का आकर्षण है वह इस चराचरात्मक विराट् क्षेत्र में व्यापक प्रवेश से प्राप्त टटकेपन के कारण ही । मेरा यह तात्पर्य नहीं कि शास्त्रीय ज्ञान या परम्परित प्रभावों से उनकी उपमाएँ अछूती रहीं अथवा वह सबकी सब उनकी सर्वथा निजी हैं ; किन्तु वह उनकी अनुभूति के संस्पर्श से वंचित रहकर कोरे ज्ञान के रूप में कदाचित् ही कहीं प्रकट हुई हैं । उन्हीं के शब्दों में यह कहने की इच्छा होती है—

‘सखिजनधिरिव प्रतिक्षणं मे

भवति स एव नवो नवोज्यमक्षयोः ।’

इसके विपरीत माघ की उपमाएँ अलङ्कार-शास्त्र के मेरुदण्ड पर टिकी हैं ; छहों शास्त्रों के अध्ययन-मनन से प्रसूत हुई हैं और कालिदासादि के स्पष्ट प्रतिबिम्ब से भी प्रभावित हैं । दूसरे शब्दों में, कालिदास की उपमाओं की भाँति वे मर्मस्पृक् नहीं हैं, चमत्कार-कारिणी हैं ।

माघ के ‘शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते’ की तुलना कालिदास के ‘वागर्थविष सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये’ से नहीं हो सकती क्योंकि पहला जहाँ ‘शब्दार्थौ काव्यम्’—जैसी काव्य की शास्त्रीय

सत्तासी

प्राच्यसाहित्य

परिभाषा से प्रणोदित है वहाँ दूसरा भावात्मक सौन्दर्य का आकलन है । इसलिए पहले में रागात्मकता का अभाव है और वह एक सूक्तिमात्र बन कर रह गया है, जबकि दूसरा एक प्राणवान् चित्र है जो मर्म की आँखों बार-बार देखे जाने पर भी अपना नयापन नहीं खोता । ऐसे ही—

‘निसर्गचित्रोज्ज्वलसूचमपचमया।

बसद्विमच्छेदसिताङ्गसंगिना ।

चकासतं चारुवमूर्त्तमण्या

कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ।’

—ऐसी उपमा द्वारा माघ नारद का सफल रूपांकन नहीं कर पाते, प्रत्युत उपमान और उपमेय के आकार-प्रकार की ऐसी विषमता सारे अवकाश को यों घेर लेती है कि कल्पित समता का चमत्कार हास्योत्पादक बन जाता है । इसके उल्टे कालिदास ऐसे स्थलों पर रूप सिरजते हैं, सौन्दर्य के प्रतिमान गढ़ते और उसे लावण्य-जल से मङ्गल-स्नान कराते हैं । उनकी उपमा—जो माघवाले ढर्रे के वर्णन से सम्बद्ध भी है—

‘पराध्वं वयांस्तरणोपपन्न—

मासेदिवान् रत्नवदासनं सः ।

भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्ति—

मयूरपृष्ठाभ्रयिणा गुहेन ॥’

उपमेय की साधारण स्थिति को असाधारण परिस्थिति में बदल देती है । रत्न-खचित आसन पर बैठे हुए अज की तुलना जब मोर पर बैठे हुए कार्तिकेय से की जाती है तो उसके इन्द्रधनुषी बर्ह-भार और रत्नच्छाया की सदृश सुन्दरता भी व्यक्त होती है और उस आसन या वाहन पर विराजनेवाले की तुल्यबलता भी । देवताओं में कार्तिकेय कदाचित् सबसे सुन्दर हैं और यहाँ स्वयंवर में आये हुए सभी राजों या राजकुमारों से अज बढ़-चढ़कर हैं । कार्तिकेय चिर-कुमार हैं और इस समता के समय तक अज भी कबौरे हैं ।^१ फिर जिस प्रकार कार्तिकेय अजेय हैं उसी प्रकार अज भी । यह स्वयंवर की पिछली

१ पहले उन्हें ‘कुमारः’ कहा भी गया है । देखिए सर्ग ५।५० ।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

घटनाओं से तथा पहले की घटनाओं से भी स्पष्ट है। एक उपमा इतने अर्थ-विस्तार को बिना खींच-तान के व्यक्त कर सके, यह शक्ति केवल कालिदास में ही देखी जा सकती है। माघ किसी भी अंश तक उनकी समता नहीं कर सकते।

भारवि के अर्थ-गौरव को भी उस अनुपात में माघ में नहीं ढूँढ़ा जा सकता जिससे 'त्रयो गुणाः' की उक्ति चरितार्थ हो। यद्यपि अनेक अंशों में माघ ने भारवि का अनुकरण किया है पर भारवि का संयम माघ के अनगढ़पन में कहीं नहीं पाया जाता। भारवि के अर्थ-गौरव को उनके 'वाक्-संयम' का ही परिणाम माना जाना चाहिए। जैसे—

‘महौजसो मानधना धनाचिंता धनुभृतः संयति खण्वकीर्तयः ।

न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वान्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥’

यहाँ एक-एक पद अर्थ की गुरुता धारण किए हुए हैं और तनिक भी बोझिल नहीं है। न भाषा में क्लिष्टता है और न भाव में दुरुहता। इसी प्रकार के अर्थ-गौरव को ऐसी सहजता से माघ के काव्य में पा लेना सम्भव नहीं है। उनके

‘उदासितारं निगृहीतमानसै-

गृहीतमभ्यात्मदशा कथंचन ।

वहिविकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः

पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥’

ऐसे श्लोकों में अर्थ-गौरव है पर भारवि की-सी सहजता और सरसता नहीं है। माघ अधिक 'टेकनिकल' हैं।

कविता के जिस प्रसन्न-प्राञ्जल स्वरूप की कल्पना भारवि ने—

‘विविक्तवर्णाभिरणा सुखभृतिः

प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।

प्रवसन्ते

नाकृतपुण्यकर्मणां

प्रसन्न-गम्भीर-पदा

सरस्वती ॥’

—ऐसे शब्दों में की है, वह—‘शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते’ की मान्यतावाले माघ के लिए दुर्लभ है। कहीं-कहीं तो भारवि कालिदास की उँचाई को छूता दीखता है—

‘अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
 सुरकुसुमनिपातैर्घ्योन्नि लक्ष्मीर्वितेने ।
 प्रियमिव कथयिष्यन्नाल्लिरा स्फुरन्तीं
 भुवमनिभृतवेलावीचिवाहुः पयोधिः ॥’

को वैसे ही विकास के आकाश में प्रकाशित देखा जा सकता है ।

दण्डी का पद-लालित्य भी माघ में नहीं है । यदि किन्हीं विशेष स्थलों की ओर आलोचक का संकेत हो तो वह ठीक नहीं है । कारण, पद-लालित्य जहाँ दण्डी की कृति की प्रकृति है, वहाँ वह माघ का आहार्य्य गुणमात्र हो सकता है और वह भी विरल, दृज के चाँद की रेख के माप का । दण्डी का आरम्भ—‘अस्ति समस्तनगरीनिकपायमाणा’—वाले लच्छेदार लम्बे वाक्य से होता है और उस लालित्य का निर्वाह वह सर्वत्र छोटे-बड़े वाक्यों में करते हैं, वह उनमें निसर्ग-दत्त है, सुबन्धु की भाँति आयास से उपलब्ध नहीं । इसलिए जब वह—

‘कुमारा माराभिरामा, रामाद्वयपौरुषा रूपा भस्मीकृतारयो, रयोपहसित समीरणा रणाभियानेन यानेन ।’

—जैसे वाक्य की रचना करते हैं जिसमें शब्दों की आनुपूर्वी का कुशल निर्वाह अपेक्षित होता है, जो बिना आयास के सम्भव नहीं, तो उसमें भी निसर्ग की प्राञ्जलता क्रीड़ा करती दीखती है । ‘भस्मीकृतचेतने मकरकेतने, प्रेमाकरो रजनीकरो, पथिकहृदलनकरवालः’—ऐसे मोती के दानों से तो उन्होंने एक-एक लड़ी सजाई है, मैं समझता हूँ, वह नैसर्गिकी प्रतिभा अभ्यास से नहीं सिद्ध हो सकती ।

यदि ज्यों-त्यों खींच-तानकर वह पद-लालित्य माघ में ढूँढ़ा जाय तो मिल सकता है, पर तब वह कहीं भी मिल सकता है, मुरारि में, भवभूति में और भट्टि में भी । और, जो सर्वत्र सामान्य रूप में उपलब्ध हो वह विशेष गुण नहीं हो सकता; किसी के व्यक्तित्व का मानदण्ड नहीं बन सकता, जैसा कि ‘दण्डिनः पदलालित्यम्’ है । तब मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि कालिदास, भारवि और दण्डीवाले ‘त्रयो गुणाः’ माघ में नहीं हैं । फिर इस शताब्दियों से चली आती हुई सूक्ति का क्या अर्थ हो सकता है ? मैं जो अर्थ समझता हूँ वह सर्वथा

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

मेरी ही सूझ है। अवश्य उस सूझ का आधार यह 'उपमा कालिदासस्य' वाला श्लोक भी है। मैं सोचता हूँ, जिस मस्तिष्क की यह कल्पना है, वह असाधारण तीव्र अवश्य था। वह कालिदास की उपमा की शक्ति को पहचान सका था; भारवि के अर्थ-गौरव तक पहुँच सका था फिर इतनी ऊँची पहचान रखनेवाले ने 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'—ऐसी थांथी और निरर्थक बात क्यों और कैसे कह डाली होगी? इसी उधेड़बुन में पड़कर पहली बार मैंने 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' का एक नवीन अर्थ निकाला है कि जैसे पूर्वोक्त तीनों कवियों—कालिदास, भारवि और दण्डी की अपनी-अपनी एक-एक विशेषता है, वैसे ही माघ की भी एक विशेषता है—'माघे सन्ति त्रयो गुणाः।' त्रयोगुणाः—अर्थात् प्रसाद, ओज और माधुर्य नामक काव्य के तीनों गुण माघ में पाए जाते हैं। ये तीनों गुण रस के धर्म के रूप में स्वीकृत हैं। अतः ओज वीर के लिए, माधुर्य शृङ्गार के लिए और प्रसाद सबके लिए प्रयुक्त होता है। रस-सिद्ध माघ ने इन तीनों गुणों की रचनाओं में अपनी शक्ति का अद्भुत प्रदर्शन किया है। अतः यही इनकी निजी विशेषता है। जैसे ओजोगुण का निर्वाह—

‘हृदयमरिवधोदयादुदूढदृढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य ।

घनपुलकपुलोमजाकुचाप्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥’

ऐसे अत्यधिक पद्यों में देखा जा सकता है। इसी प्रकार माधुर्य गुण—

‘मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।

मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृतावरमुज्जगे ॥’

—के समान पदों में प्रत्यक्ष है और प्रसाद गुण—

‘पादाहतं यदुत्थाय मूर्धनमधिरोहति ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥’

ऐसे श्लोकों में।

माघ उन तीनों गुणों को एक पद्य में भी सफलतापूर्वक दर्शा सके हैं, जैसे—

इक्यानवे

प्राच्यसाहित्य

‘विकवक्त्रमल्लगन्धैरन्धयन् भृंगमालाः
सुरभितमकरन्दं मन्दमावाति वातः ।
प्रमदमदनमाद्यद् यौवनोद्दामरामा
रमण-रभस खेद-स्वेद-विच्छेद-दक्षः ॥’ में ।

इस प्रकार माघ में कालिदास, भारवि और दण्डीवाले गुण नहीं, माधुर्य, आज और प्रसाद नामक काव्य के तीनों गुणों का अलौकिक निर्वाह है जिस कारण उनकी कविता अपनी अन्यदुर्लभ सत्ता स्थापित करती है और मल्लिनाथ को सर्वङ्गषा-ऐसी ध्याख्या लिखनी पड़ती है जिसके लिए कहा जाता है—‘माघे मेघे गतं वयः ।’ मैं भी मल्लिनाथ के इन शब्दों के साथ अपनी मान्यता को संक्षिप्त करता हूँ—

‘धन्यो माघकविर्यन्तु कृतिनस्तस्मृक्तिसंसेवनात् ।’

— — —

शृङ्गारशतक

संस्कृत के विश्वविजयी काव्य-ग्रन्थों में भर्तृहरि के शतक भी हैं। इनकी मौलिकता पर उँगली उठानेवाले भी इनकी लोकप्रियता के सम्बन्ध में दो मत नहीं रखते। संस्कृत में ऐसे श्रेष्ठ ग्रन्थों की भी एक विशाल परम्परा है जिन्हें प्रमाणित लेखकों के अभाव में मौलिक मानते हिचकिचाहट हो सकती है; किन्तु जो लोकप्रियता में अब भी अतुल हैं। कालिदास के नाम से प्रचलित कुछ फुटकर ग्रन्थों और भास के नाटक-चक्रों को छोड़ देने पर भी हनुमन्नाटक, भोज-प्रबन्ध आदि काव्य-नाटक इसी परम्परा में आते हैं और भर्तृहरि के विश्वविख्यात शतक भी।

भर्तृहरि सच्चे अर्थ में लोक-वेद-विशारद थे। शास्त्रीय ज्ञान की अगाधता तो बहुतों में पाई जाती है, पर लौकिक अनुभूतियों का भर्तृहरि-सा अखण्ड भाण्डार कोई विरला ही होगा। जनता के स्वप्नों और भावनाओं को वाणी देने के अतिरिक्त, जगत् तथा जीवन का कोना-कोना भौंककर, छोटी-से-छोटी वस्तु को भी बारीक नजर से देख-भालकर उससे उदात्त शिक्षा ग्रहण करना मानव-समाज के मंगल के लिए कितना आवश्यक है, इसे कोई भर्तृहरि से सीखे। गोस्वामी तुलसीदास ने उनकी ऐसी मंगलमयी सूक्तियों को रामचरित मानस में यथास्थान संगृहीत कर लिया है। क्यों न हो, भर्तृहरि की भाँति तुलसी-दासजी भी तो जनता के ही कवि थे !

नीतिशतक और वैराग्यशतक की तुलना में शृङ्गारशतक नहीं टिकता, इसका कारण कदाचित् यह हो कि नीतिज्ञ एवं विरागी चित्त शृङ्गार की निविड़ अनुभूति के योग्य नहीं होता। कामना एवं लालसा के लास्य का विरस परिणाम जान लेने पर उस पर उत्कट

प्राच्यसाहित्य

आसक्ति सम्भव नहीं। भट्टहरि के विवेकशील पाठक मुझसे सहमत होंगे कि नीति तथा वैराग्य के समान उन्हें न शृङ्गार-रस रुचा था, न पचा था।

आरम्भ में कामदेव की स्तुति के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, वे उस पर आरोप और आक्रोश के अधिक व्यञ्जक हैं। वह कहते हैं कि उस कुमुमायुध को नमस्कार है जिसने शिव, ब्रह्मा और विष्णु को भी स्त्रियों के गृहकार्य के लिए दास बना रक्खा है। इसी प्रकार 'समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः'—या स्त्री प्रत्येक प्रकार से बन्धन ही बन्धन है कहते हुए स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन प्रारम्भ करते हैं और समस्त दुःखों के एकमात्र हेतु के रूप में—दुःखैकहेतुर्नहि कश्चिदस्ति—स्त्री के भाँहक रूप-रंग और उन्मादक हाव-भाव की उन्मुक्त चर्चा करते हैं और अन्त में गुस्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार कर लेते हैं कि वह भी एक समय था जब कामान्ध हाँकर मैं समस्त संसार को स्त्रीमय देखता था पर अब तो आँखों में विवेक का वह अञ्जन रचा है जिससे त्रैलोक्य ब्रह्ममय दीख पड़ता है !

भला ऐसे ब्रह्मज्ञानी की चित्तवृत्ति स्त्री में रम सकती थी ? यही कारण है कि इनका शृङ्गार-वर्णन इतना स्थूल और उथला है ! यह शृङ्गार वैराग्य की पृष्ठभूमि के रूप में ही अङ्कित हुआ है—

‘किं कन्दर्पं करं कदर्थयसि किं कोदण्डमङ्गारितैः
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं त्वं वृथा बल्लसे
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं ।
चेतश्चुम्बित-चन्द्रचूड-चरणध्यानमृतं वर्तते ।’

अरे लुट्र कामदेव, अपने धनुष की टङ्कार से तू मुझे क्या डराता है ? और कोयल, तुझे अपनी शीरीं जवाँ पर फिजूल ही नाज है ! और अरी ओ कामिनी, तू अपनी तीखी-बाँकी चितवन मुझ पर यों न चला ! मैं तो अब चन्द्रमौलि के चरणों से लौ लगा चुका हूँ !

इसका 'टोन' विद्यापति के एक पद से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। अन्तर है तो यही कि विद्यापति ने जहाँ रस की धारा बहा दी है वहाँ इन्होंने चित्त का भस्म उड़ा दिया है। वह पद है—

चौरानबे

‘आजु रजनि हम भागे पोहाओल पेखल पिय-मुख-चन्दा ।
जीवन यौवन सफल हम मानल दस दिसि भेज निरइन्दा ॥
आजु मसु गेह गेह करि मानल आज मसु देह भेल देहा ।
आजु बिधि मोहे अनुकूल होयल टुटल सबहि सन्देहा ॥
सोइ कोकिल अब लाख पुकारउ, लाख उदय करु चन्दा ।
पाँच बाण अब लाख बाण हुउ मलयपवन बहु मन्दा ॥’

कृष्ण-मिलन से आत्म-विभोर हुई राधिका कहती हैं—अब लाख कोयल कूके और लाख चन्द्रमा उगे और चाहे तो पञ्चबाण लक्ष बाण धारण कर ले, अब उन्हें काहे का डर और किसकी परवा है ! अब तो वह अपने साँवले-सलोने के मिलन-मधु से मतवाली हो चुकी हैं !

परवर्तियों ने ‘शृङ्गार-शतक’ को भी अनेक वर्गों में विभक्त कर डाला है। इसमें ऋतुवर्णन के अतिरिक्त दुर्विरक्त और सुविरक्त के वर्णन हैं। यौवन-वर्णन के साथ-साथ कामिनी-निन्दा और स्त्री-परित्याग की प्रशंसा भी है। इनके अतिरिक्त नारी-सौन्दर्य-सम्बन्धी केवल दो-चार स्फुट पद्य हैं। इस वर्गीकरण को ध्यानपूर्वक देखने पर भर्तृहरि का निगूढ़ अभिप्राय सुस्पष्ट अभिव्यक्त हो जाता है कि वह नारी जाति के प्रति अत्यन्त असहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखते थे। सुस्पष्ट शब्दों में उनकी दृष्टि एक वैरागी की दृष्टि थी और वह इस मायाजाल में न पड़नेवाले की ही सराहना करते रहे। उन्हें वे सब व्यक्ति आत्म-वञ्चक दिखते थे, जो नारी-समाज के साथ रहकर आत्मोन्नति करने का स्वप्न देखते थे। अतः उनका शृङ्गार प्रेय-पथ-पथिक न होकर श्रेय-पथ की ओर प्रेरित करनेवाला ही है।

शुद्ध शृङ्गारवाले परिगणित पद प्रथम श्रेणी के हैं। वहाँ वह अमरुक और गोवर्धन से उन्नीस नहीं पड़ते। संस्कृत-भारती के गलहार का यह बहुमूल्य मोती अपनी प्रभा और प्रभाव के लिए प्रख्यात है:—

‘स्मितं किञ्चिद् वक्त्रे सरल-तरलो दृष्टिविभवः
परिष्वङ्गो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतीनामारम्भः किसलयितस्त्रीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगादृशः ॥’

प्राच्यसाहित्य

मन्द-मन्द मुसकुराता हुआ मुख, सीधी और चंचल चितवन, बड़े ही हाव-भाव के साथ मीठी-मीठी बातें करना, और प्रति-चरण-चाप पर कुछ भाँपती हुई की तरह मन्द मन्थर गति से चलना : युवावस्था की सीढ़ियों पर पैर रखते ही सुन्दरियों का क्या कुछ अनोखा नहीं हो जाता ! सुस्पष्ट ही विद्यापति आदि के वयःसन्धि-वर्णन पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है ।

इसी प्रकार पद्माकर के:—

‘गुलगुली गुल है गलीचा है गुणीजन हैं,
चाँदनी है, चिक है, चिरागन की माला है ।’
के प्रेरक-से ये कतिपय पद आते सुन्दर हैं—

‘परिमलभृतो वाताः शाखा नवाङ्कुरकोट्यो
मधुरविरतोऽकथं वाचः प्रियाः पिकपक्षिणाम् ।’

अथवा—

‘आवासः किल किञ्चिदेव दयितापार्श्वे विलासात्मकः
कर्णे कोकिलकाकलीकलरवः स्मेरो लतामण्डपः ।
गोष्ठे सत्कविभिः समं कतिपयैः सेव्याः सितांशोः कराः
केषाञ्चित् सुखयन्ति नेत्रहृदये चैत्रे विचित्रा रूपा ।

शीतल, मन्द सुगन्ध पवन बह रही है । वृक्षों की शाखाओं में नए पत्तों के अंकुर निकल रहे हैं । कोयल का पञ्चम स्वर कानों में अमृत उड़ेल रहा है । प्रियतमा मदभरे नेत्रों से निहारती और कसमसाते अंगों से अँगड़ाइयाँ लेती हुई पास ही लेटी है । रसिक कविगण चाँद और चाँदनी पर कविताएँ सुना रहे हैं । ऐसे मंदिर-मधुर वातावरण में चैन की चाँदनी रातों से नयन-मन जुड़ानेवाले विरले ही होते हैं ।

ऐसे ही उमरखय्यामी स्वर्ग का अपूर्व-अद्भुत वर्णन दर्शनीय है । अंगूर की बेल की छाँव में मधुवाला के हाथ में छलकते हुए मधु के प्याले और काव्य-पुस्तिका में स्वर्ग का साम्राज्य देखनेवाले उमरखय्यामों के लिए ही यह स्वर्ग भी निर्मित हुआ दिखता है—

‘मालती शिरसि जृम्भणोन्मुली चन्दनं वपुषि कुङ्कुमान्वितम् ।
वक्षसि प्रियतमा मनोहरा स्वर्गं एष परिशिष्ट आगतः ॥’

किन्तु उससे क्या ? भर्तृहरि का कोई-कोई शृङ्गार भालतीमाधव-
वाले भवभूति की याद दिलाता है। जैसे—

‘प्रणयमधुराः प्रेमोद्गाढा रसादलसास्तथा
भणितिमधुरा मुग्धप्रायाः प्रकाशितसन्मदाः ।
प्रकृतिसुभगा विभ्रम्भार्हाः स्मरोदयदायिनो
रहसि किमपि स्वैराज्ञापा हरन्ति मृगीदृशाम् ॥’

ऋतु-वर्णनवाले वग का विशेषता यह है कि ऋतु-संहार की परम्परा में वह उन्नत स्थान प्राप्त करने के योग्य है। उसमें रघुवंशवाले कालिदास या भारवि की प्रौढ़ि न रहने पर भी माध की कृत्रिमता नहीं है। निर्वैयक्तिकता का तो चरम रूप अभिव्यक्त हुआ है उसमें। वहीं चिपचिपाहट नहीं है, उत्तान शृङ्गार के वर्णन में भी नहीं। काव्य-कला के सर्वश्रेष्ठ मानदण्ड के रूप में मैं निर्वैयक्तिकता को स्वीकारता होता, तो इस ठौर अत्युक्ति में फूट पड़ता; किन्तु मैं इसे द्वितीय श्रेणी के काव्य के अन्तर्गत ही मानता हूँ। न तो इन पद्यों में रसात्मक अनुभूति की गहराई है और न इनकी अभिव्यक्ति में वक्रता या उक्ति वैचित्र्य ही। शृङ्गार के नाम पर निरा कोकशास्त्र या ऋतुचर्या है। दो-एक अपवादों में ही कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं।

भर्तृहरि का कला-वैभव सच्चे और भूटे विरक्तों के वर्णन में तथा कामिनी-निन्दा और स्त्री-परित्याग की प्रशंसा में खूब ही निखरा है। भाषा में असाधारण ओज, चुटीले व्यंग्य, मर्मस्पर्शी उक्तियाँ, मुहावरे—यहाँ सब कुछ अलौकिक है। बलशालियों को भर्तृहरि की यह खुली चुनौती है—

‘मत्तभक्तुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्पचण्ड-मृगराजवधेऽपि दृष्टाः ।
किन्तु अवीमि बल्लिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः ॥’

कि मतवाले हाथियों के मस्तक फाड़ डालनेवाले मूरमाओं से यह धरती खाली नहीं हो गई है। इतना ही नहीं, ऐसे-ऐसे वीर योद्धा भी पाये जाते हैं जो खूँखवार सिंहों का शिकार करते हैं; किन्तु मैं बलवानों के आगे हठपूर्वक यह कहता हूँ कि कामदेव के मद का दलन करनेवाला तो कोई विरला ही पुरुष होता है।

संस्कृत की पावस-प्रकृति

संस्कृत काव्य का प्रादुर्भाव ही प्रकृति के हिरण्यगर्भ से हुआ है। वैदिक मन्त्रों में प्रकृति का ऐश्वर्य बहुविध छवियों से विच्छुरित है। सौंदर्य का उभार ऋषियों के चित्रण का लक्ष्य न था, अतः रस का उन्मादक रूप वहाँ भले ही दृष्टिगोचर न हो; किन्तु प्रकृति के स्वस्थ उदात्त सौंदर्य का दर्शन सर्वत्र सुलभ है। कवित्व के आग्रह से, वर्षा ऋतु का सुस्पष्ट वर्णन वेदों में नहीं है, परन्तु वृत्र और इन्द्र के प्रचण्ड युद्ध का उल्लेख है जिसके फल-स्वरूप जल-द्वार के खुल पड़ने की बात आती है। इसी प्रकार 'अहि' नामक वृष्टि-निरोधक असुर की चर्चा है जिसे इन्द्र ने वज्र से मार गिराया था और—

‘फिर क्या ? छुटीं अच्छल जलधारे,
पहुँचीं सागर - कृष्ण - किनारे !’

वस्तुतः वैदिक वर्णनों से एक ही विश्वास दृढ़तापूर्वक समर्थित होता है—‘यज्ञाद् भवति पर्जन्यः।’ यज्ञ से वृष्टि होती है, अतः वृष्टि के प्रति उसके अधिष्ठाता इन्द्र की कृपा या सामर्थ्य ही प्रमुख हो उठी है जो ओजस्विता के साथ वर्णित हो कर भी वर्षा-वर्णन के सौष्ठव से निरपेक्ष है।

संस्कृत में इस सौष्ठव का अवतार सर्वप्रथम आदि कवि के काव्य में हुआ। मानव-हृदय को स्पन्दित करने की क्षमता इसमें असाधारण रूप में स्फुट हुई। वैदेही के वियोग में अश्रुस्नात राम के उर में श्याम मेघ यों संक्रान्त हो गए कि उनकी सजल बाणी वर्षा की प्रतीक बन गई; उसने काव्य में एक नई परम्परा प्रतिष्ठित कर दी जिस कारण वियोग-वर्णन के साथ वर्षा की निविड़ आर्द्रता सदा के लिए जुड़ गई। वियोग-वर्णन का सब से समर्थ माध्यम वर्षा बन गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदि कवि के एक-दो पद्यों को स्फुट की भाँति उद्धृत कर उनमें

प्रकृति का आलम्बन रूप निरखते और परवर्ती कवियों को कोसते हैं कि उन्होंने उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति का वर्णन किया है; वे वाल्मीकि, व्यास, कालिदास की निरपेक्षता भूल गए हैं, परन्तु यह आरोप सही नहीं है। जो प्रबन्ध-व्यङ्ग्य का मर्म समझते हैं उनसे यह अविदित नहीं। आदि कवि के पद्य मुक्तक नहीं हैं और वे जिस सामूहिक प्रभाव की सर्जना करते हैं वह उद्दीपन का ही प्रभाव है; आलम्बन का भाव-विस्तार कदापि नहीं। जैसे :—

‘मुक्तासकाशं सलिलं पतद्गै
सुनिर्मलं पद्मपुटेषु जगन्मृ ।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गाः
सुरेन्द्रदत्त तृषिताः पिवन्ति ॥’

अर्थात्—

‘जो पद्मपुटों पर टप-टप टपक-टपक कर—
आता जल, विहगों का दल लपक-लपक कर—
है उसे पी रहा झुक झुक, उमक-उमक कर;
गीले डैने फड़का, सुलझा उलझे पर,
कोई प्यासा, कोई बिन-पिप अघाया !’

अथवा—

‘व्यामिश्रितं सजंकदम्बपुष्पै—
नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥’

अर्थात्—

‘गिरि-सरिताएँ जलदी जलदी हैं भरतीं—
उन मुक्ताओं को, जो प्रवाल बन भरतीं;
धुल कर गैरिक ने जल को लाल बनाया—
जिस पर कदम्ब कुसुमों का परिमल छाया,
जिसका पङ्क करता मयूर-स्वर आया !’

प्राच्यसाहित्य

ये पद्य वर्षा-प्रकृति को पूरी तटस्थता से साकार करते प्रतीत होते हैं, पर ऐसी प्रतीति आपाततः ही होती है। वस्तुतः इनका निर्माण उद्दीपन के क्रम में हुआ है और इनका मुख्य सम्बन्ध—

‘कुटजान् परय सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु ।
मम शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान् ॥’

अथवा—

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिष्कृता ।
स्रोतेषु शोकसन्तप्ता मही वाष्पं विमुञ्चति ॥’

अथवा—

‘नीलमेघाश्रिता विद्वुस्स्फुरन्ती प्रतिभाति मे ।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्गे वैदेहीव तपस्विनी ॥’

—ऐसे पद्यों से है। कहने का तापर्य्य यह कि राम की उक्ति के अनुरूप गरिमा एवं अभिरामता उक्त उद्गारों में उद्भासित है जिसे खण्ड-खण्ड रूप में भी आस्वाद्य समझा जा सकता है; किन्तु सन्दर्भ-शुद्धि तथा प्रबन्ध-परिवेश के अनुरोध से इसे अखण्ड रूप में ही चर्चित करना होगा।

वाल्मीकि के वर्णन में प्रकृति तथा मानव-प्रकृति के सामंजस्य का आप्रह्न नहीं लक्षित होता—जैसा कालिदासादि में है। प्रकृति-वर्णन में व्यापक वस्तुनिष्ठता के कारण गीतिकाव्य की भावात्मक मधुरिमा के बीज भर मिल पाते हैं यहाँ। काव्य-कला के विकास के इतिहास में शैली-गत सारगर्भ संक्षिप्तता के अतिरिक्त कालिदास की सबसे बड़ी देन यही प्रकृति एवं मानव-प्रकृति में रागात्मक सहज सामंजस्य की प्रतिष्ठा है।

भागवत का वर्षा-वर्णन तुलसीदास जी के आदर्श, उपजीव्य होने के कारण विशेष साहित्यिक प्रसिद्धि रखता है, अन्यथा उसमें शुष्क नीति का आप्रह्न इतना प्रबल है कि काव्य की आत्मा कहीं दूँदें नहीं मिलती। उसकी उपमाएँ रागोद्बोध में अत्यन्त असमर्थ हैं। आदिकवि के अलङ्कार जहाँ सचित्र संगीत हैं, जैसे—

‘षट्पादतन्त्रीमधुराभिधारं भ्रुवङ्गमोदीरितकण्ठतालम् ।
 आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादैर्घनेषु सगीतमिव प्रवृत्तम् ॥
 वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृग्यन्ति समाश्वसन्ति ।
 नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः भ्रुवङ्गाः ॥’

वहाँ भागवतकार की प्रतिभा प्रगाढ़ दार्शनिकता तथा नीरस नैतिकता के निविड़ आच्छादन से आच्छादित है। उन्हें नील नीरदों से भरा आकाश सगुण ब्रह्म के समान जान पड़ता है; सूर्य-चन्द्र के अभाव में जुगनुआं की जगमगाहट में वह कलियुग की आहट पाते हैं कि जब पाप से पुण्य हारता और वेद को पाखण्ड परास्त करता है। पहाड़ झड़ियों की चोट ऐसे मेलते दिखते हैं जैसे भक्तजन लौकिक आपदाओं को हँसते-हँसते मेल जाते हैं।

मेघदूत पावस-रस से प्रतिस्तर आर्द्र है; इसका संकेत उसके नाम में ही है। कालिदास का ऋतु-वर्णन काव्य-नाटकगत देश-काल की सजीवता में अपनी सार्थकता रखता है, अतः ऋतुसंहार की तुलना चेष्टाएँ अन्यत्र, उनकी प्रौढ़ि में, नहीं प्राप्त होती। वर्षा की बूँदों से उनकी कविता का सीमन्त मोतियों-गुँथी सुन्दरी की अलको-सा सुसज्जित है।

शूद्रक का वर्षा-वर्णन उनकी प्रगल्भ प्रतिभा का परिचायक है। इन्द्रधनुष से सजे मेघ के लिए जैसे कालिदास की यह उपमा प्रख्यात है :—

‘येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापस्स्यते ते ।
 वहेणैव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः ॥’

उसी प्रकार यह शूद्रक की भी—

‘मेघो जलाद्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
 विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरोयः
 आभाति संहतवलाकगृहीतशङ्खः
 खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥’

‘केशवगाग्रश्यामः कुटिलवलाकः वलीरचितशङ्खः ।
 विद्युद्गुणकौशेयः चक्रधर इवोन्नतो मेघः ॥’

प्राच्यसाहित्य

रीतियुग की कविताओं में इस कल्पना की शतराः आवृत्तियाँ हुई हैं।

वसन्तसेना कहती है :—

‘ब्रह्मोहीति शिखरिणाम् पटुतरं केकाभिराकम्बितः
प्रोक्षीयेव वलाक्या सरभसं सोऽक्षयकमाक्षिप्तः ।
इंसैरुज्जितपङ्कजैरतितरां सोऽङ्गेगमुद्गीक्षितः
कुर्वन्नजनमेवका इव दिशो मेघः समुक्षिप्य ॥’

चारुदत्त की उक्ति है :—

‘तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं
शिक्षासु रुषं सखितेषु वषट्कम् ।
संगीतवीणा इव ताड्यमाना—
स्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥’

काव्यकला की दृष्टि से यह ‘तालानुसारेण पतन्ति धाराः’ बाल्मीकि के ‘वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्’ से अधिक सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण है।

माघ ने शाब्दिक सौष्ठव के आत्यन्तिक आग्रह में पड़कर वर्षाप्रकृति के मर्मोद्घाटन में अपने को अक्षम सिद्ध कर दिया है। कवि-समय की रुढ़ियों का निष्प्राण वर्णन हृदय को नहीं छूता; कल्पना का चमत्कार भी नहीं प्रदर्शित करता है। केवल शब्दों का मेघाढम्बर है इनमें :—

‘जलदपंक्तिरनतयदुन्मदं
कलविकापि कक्षापिकदम्बकम् ।
कृतसमाजं नमर्दलमयङ्कल—
ध्वनिजया मिजया स्वन-रुम्पदा ॥’

अथवा—

‘नवपयःकणकोमलमाखती-
कुसुमसम्पत्तिसंततसङ्गिभिः ।
प्रचक्षितोद्भिभैः परिपाण्डमा
शुभ्रजोभ्रजोऽक्षिभिराददे ॥’

परम्परा जिस सीमा तक काव्य की प्रेरणा-प्रतिभा-शक्ति को तीव्र बनाकर उसे सन्तुलित एवं मर्यादित रखती है वहीं तक वह वरेण्य है, वरणीय एक सौ दो

है, किन्तु जब वह गतिरोध उत्पन्न करने लगती है, अनुकृति एवं आवृत्ति ही उसका चरम लक्ष्य हो जाता है तब वह कदापि बाञ्छनीय नहीं हो सकती। कालिदास के 'कुसुमजन्म ततो नव पल्लवास्तदनु षट्पदकोकिल कूजितम्; इति यथा-क्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वन-स्थलीम्' के अनुकरण पर रचित माघ के छन्द निर्जीब हैं। ऋतुवर्णन के परिगणित तत्त्व ही उनके आधार हैं, कवि की विराट् कल्पना या प्रकृति-पर्यवेक्षण-जन्य स्वानुभूति नहीं।

मुक्तकों में वर्षा विशेषतः चमत्कार की पद्धति पर वर्णित पाई जाती है जो कभी हल्का कभी ईषद् गम्भीर प्रभाव उत्पन्न करती है। जैसे—

‘चन्द्रविम्बरविम्बतारकामण्डलानि घनमेघदम्बरैः ।

भञ्जितानि जलदोदरेषु तद्रोदनध्वनिरिवैष गर्जिता ॥’

अर्थात्—

बादलों की गड़गड़ाहट वस्तुतः उन सूरज-चाँद-सितारों का करुण क्रन्दन है जिन्हें मेघ अपनी चपेट में पहले ही ले चुके होते हैं।

अथवा—

‘क्षीतस्त्रादिव-संग्रस्तं प्रावृषेययाज्ञभस्वतः ।

नभो बभार नीरन्ध्रं जमूतकक्षकम्बलम् ॥’

बरसात की तीखी ठण्डी हवा के दर से आकाश ने घने बादलों का कम्बल ओढ़ लिया है।

अथवा—

नन्दयति कस्य न मनः सबलैर्घनधूक्षिभूत्सरङ्गायैः ।

आक्रम्य पुत्रकेरिव मलिनोद्धतमम्बरं जलदैः ॥’

— — —

: १२ :

राजर्षि जनक

शब्दों के अपव्यय के युग में अपप्रयोग की चर्चा व्यर्थ है; किन्तु पहले मन्त्र-द्रष्टा को ऋषि कहते थे। ब्रह्मर्षियों के अतिरिक्त तपस्वी क्षत्रिय राजा 'राजर्षि' कहलाता था। 'राजर्षि' उपाधि की सार्थकता कालिदास ने हृदयस्पर्शी तर्कों से प्रमाणित की है—

‘अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति ।
अस्यापि चां स्पृशति वशिन्श्चरणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजर्ष्यः ॥’

चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्वभोग्य होने के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और सर्व-धर्म-पोषक होने के नाते गार्हस्थ्यआश्रमवासियों किसी आश्रमवासी ऋषि से घटकर नहीं होता। जो राजा गृहस्थाश्रम में केवल इसलिए है कि इस प्रकार अन्यान्य आश्रमवालों का भरण-पोषण करने में उसे सुविधा होती है, वह 'राजर्षि' नहीं तो और क्या है? इसके अतिरिक्त, अपनी प्रजा को सन्तान के समान मानकर सदा-सर्वदा उसकी रक्षा के लिए तत्पर रहना किसी तपस्वी ऋषि की तपस्या से कम नहीं है। छठे भाग से निर्वाह करनेवाला कोई राजा यदि सूर्य, समीरण और शेषनाग की भाँति निरन्तर प्रजा-पालन-रूपी तप में निरत है तो निस्सन्देह वह ऋषि है; राजर्षि है।

धार्मिक राजाओं को 'राजर्षि' कहने की परम्परा रही है; किन्तु वस्तुतः विश्वामित्र, जनक-जैसों से ही यह उपाधि सार्थक हुई है, दुष्यन्त-जैसों से नहीं।

राजर्षि जनक की वंशावली का उल्लेख रामायण और भागवत में है। जनकों के इस पवित्र कुल में सीरध्वज जनक जानकी के सम्बन्ध

एक सौ चार

से सर्वाधिक प्रख्यात हुए। बालकाण्ड के सत्तरवें, इकहत्तरवें सर्गों में भवभूति के—‘जनकानां रघूणाञ्च सम्बन्धः कस्य न प्रियः’ का जो वंशानुक्रम वर्णित है अथवा भागवत के नवम स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में वह जिस रूप में उल्लिखित हुआ है उससे सीरध्वज जनक के उदात्त चरित्र पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता; किन्तु देवी भागवत आदि पुराणों तथा विभिन्न काव्य-नाटकों में, छिटपुट रूप में, जनक की महत्ता का सङ्केत मिलता है। उदाहरणार्थ—भवभूति के उत्तर रामचरित में रामराज्याभिषेक के अवसर पर जनक आते और कुछ दिन रहकर मिथिला लौट जाते हैं—

‘स्नेहात् सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि
नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्।’

जिससे सीता अनमनी हो जाती हैं तब उन्हें मनाते हुए राम जो वचन कहते हैं उससे जनक के उज्ज्वल चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

देवि, धीरज धरो। तुम्हारे पिताश्री बहुत दिनों तक हमें छोड़कर नहीं रहना चाहते; किन्तु जप-यज्ञ आदि पारलौकिक नित्य कृत्यों में अति व्यस्त रहने के कारण गेहलौकिक कार्यों के लिए वह अधिक समय नहीं दे पाते। गृह-धर्म कर्म-संकुल होता है; अग्निहोत्रियों को याज्ञिक कर्मों की आत्यन्तिकता के कारण उससे अधिक के लिए कहाँ छुट्टी मिल पाती है ?

राम के इस संभाषण से कर्मकाण्डी जनक का पता लगता है। मण्डन मिश्र तक मिथिला में कर्मकाण्ड की ऐसी प्रोज्ज्वल परम्परा रही भी है।

फिर वसिष्ठ की उक्ति—‘राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते’ से प्रजा-जनों के रक्षक-अवेक्षक के रूप में राजा जनक की एक भाँकी मिलती है।

और चतुर्थ अङ्क में भवभूति ने जो उनका मानवीय रूप गढ़ा है, भावनाओं से भरे हुए उनके हृदय की एक-एक पल्लि जिस तरह उतारी है उससे परिचय के आवेष्टन में बँधे हुए मन को तो सहसा यह

प्राच्यसाहित्य

विश्वास ही न होगा कि आह्निक जप-यज्ञों ने उनके मानस को रस-हीन कर दिया था या ब्रह्म ज्ञान ने उनकी आत्मा को सूर्य-चन्द्र का आलोक प्रदान किया था। वह सीता-वनवास की दुर्घटना से इस सीमा तक शोक से अभिभूत होते हैं कि आत्महत्या तक उनकी अश्रु-प्लुत दृष्टि फैल जाती है। कौशल्या को देख कर वह इतने भावुक हो उठते हैं कि उनके सम्बन्ध में राम की उक्ति—‘सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायै-र्गृहस्थता’ शङ्कनीय हो जाती है। अनुताप से नवनीत-सा पिघलता हुआ उनका मन ऐसी कैसी कोमल भावना की छवि उरेहता है !

‘यदस्याः पत्युर्वा रहसि परमं दुषितमभूत्
अभूवं दम्पत्योः पृथगाहमुपालम्भविषयः ।
प्रसादे कोपे वा तदनु मदधीनो विधिरभू—
दज्ञं वा तत् स्मृत्वा दहति यदवस्कन्ध हृदयम् ॥’

मुरारि ने ‘अनर्घराघव’ के तृतीय अङ्क में जनक के ज्योतिर्मय व्यक्तित्व को विविध भङ्गियों से उद्घाटित किया है। विश्वामित्र विदेह जनपद की शान्ति एवं सम्पन्नता को लक्ष्य कर जनक से कहते हैं—

‘यत्र त्वं ब्रह्म-मीमांसा-तत्त्वज्ञो दण्डधारकः ।
पुरोधाश्चैव यस्यासावंगिरः प्रपितामहः ॥’

और उनके हर्ष-शोक पर मुसकाते हुए—

‘यजूंषि तैत्तिरीयाणि मूर्त्तानि वमतिस्म यः ।
स योगी याज्ञवल्क्यस्त्वां वेदान्तानभ्यजीगपत् ॥’

फिर उन्हें ‘महायोगी’ की उपाधि से सम्बोधित करते हैं :—

‘किं याज्ञवल्क्यो जनकः किमेवं
न वः स्वरूपं क्वयोऽपि विद्युः ।
प्रवाहनित्यानधिकृत्य युष्मान्
सहस्रशाखाः श्रुतयः प्रथन्ते ॥’

जनक गायत्री मन्त्र के साक्षात्कर्ता विश्वामित्र तथा शतानन्द से अपनी त्रिभुवन-महनीय महिमा का वर्णन सुन ससंकोच मुसकाते हुए कहते हैं :—

एक सौ छह

‘निर्माय कामं यामृचामघमर्षणीना—

मुन्मार्जनीजगदधानि तवाघ वाचः ।

भोतुं चिरप्रणयि कौतुकमस्ति चेतो

दुःखाकरोति पुनरेष समार्थवादः ॥’

किन्तु गुरु याज्ञवल्क्य से ब्रह्म-विद्या की दीक्षा लेनेवाले इस महा-योगी का यह मानवीय पक्ष स्वच्छ हृदय को साश्चर्य्य प्रभावित करता है—

‘समस्या वा साम्नां बहिरबहिरंहः परिमृजा

मृचो वा संवादः किमपि यजुषां वा परिपणः ।

त्वदाशीर्वादोऽयं बहुविषयसाक्षात्कृतफलो

परं मे वत्सायाः प्रथयति पुरोवर्तिनमिव ॥’

स्वयं जनक ने राम-लक्ष्मण को देखकर उच्छ्वासित होते हुए मन को लक्ष्य कर स्वीकार कर लिया है कि यह मुख आत्मबोध के मुख को मन्द-शिथिल करनेवाला है—

‘भवति न तथा भानोः शिष्ये गुरौ रसतो न च

स्मयमपि मुनौ विश्वाभिन्ने गृहानधिति ॥

दशरथसुतावेतौ दृष्ट्वा यथोच्छ्वसितं मनः

शिथिलयति मे प्रत्यग्ज्योतिःप्रबोधसुखासिकाम् ॥’

इस प्रकार राम-चरित्र को उपजीव्य बनाकर लिखे जानेवाले सभी काव्य-नाटकों में राजर्षि जनक का स्वरूप विभिन्न कोणों से लिए गए विचित्र चित्रोंवाले एक ही व्यक्ति के समान अनेक प्रतिभासित होने पर भी एक है। सबने उनके उस रूप को अवश्य लक्ष्य किया है, जिसकी पृष्ठभूमि वृहदारण्यक में है।

वृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में जनक-याज्ञवल्क्य का संवाद आता है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने वाक्, प्राण, चक्षु आदि में ब्रह्मरूपता का ज्ञान जनक को कराया था। याज्ञवल्क्य ने जनक से जानना चाहा कि उनके आयतन तथा अधिष्ठान का ज्ञान भी उन्हें कराया गया है क्या ? उत्तर नकारात्मक मिला। तब याज्ञवल्क्य ने उन्हें आयतन अधिष्ठान, उपासना-पद्धति तथा परिणाम आदि का सम्यक् ज्ञान कराया।

भाष्यसाहित्य

चतुर्थ ब्राह्मण में इस प्रसंग का उपसंहार होता है। इसके पूर्व तृतीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में ही राजा जनक के प्रचुर दक्षिणवाले यज्ञ की चर्चा आई है जिसमें कुरु-पाञ्चाल देश के सभी विद्वान् ब्राह्मणों का समागम हुआ था। उस अवसर पर याज्ञवल्क्य ने जनक को ब्रह्मविषयक ज्ञान के जिस सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर स्तर से परिचित कराया था उसके विवेचन का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। हम उस प्रसङ्ग से इतना ही जान सकते हैं कि जनक जन्मजात राजर्षि थे। यज्ञ-याग, धर्म-कर्म की ओर उनकी सहज प्रवृत्ति थी। याज्ञवल्क्य-समागम से पहले भी इस दिशा में उनकी अभिरुचि थी जिस कारण विभिन्न ऋषि-महर्षियों से वह ब्रह्म-विषयक प्रश्न पूछते रहते थे, और इतना विराट् यज्ञ रच कर, दस हजार स्वर्ण-मण्डित सींगावाली गाँव दान कर, वह सर्वोच्च ब्रह्मज्ञानी की खोज करने में सफल हो सके थे। उनके लिए वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली के निर्माता की यह उक्ति किन्तु सटीक बैठती है—

‘कुलं पवित्रं जननी कृतार्थं
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिन्
लोनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥’

कि जिसका मन उस असीम सच्चिदानन्दधन ब्रह्म में लीन हो गया उसका, समभो, सम्पूर्ण कुल पवित्र हो गया; जननी कृतार्थ हो गई और इतना ही नहीं, उसकी वजह से यह वसुन्धरा भी पुण्यवती हो गई।

राजर्षि जनक के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि ब्रह्मज्ञान काँड़े अलौकिक आलोक मात्र नहीं है, वह लौकिक तथा व्यावहारिक जीवन को मनुजुलित रखने का अमोघ अस्त्र भी है। लक्ष्य का सम्यक् ज्ञान न रहने पर अधिक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है जिस क्रम में अनावश्यक रूप से बहुत सारे नदी-भरने पार करने पड़ते हैं; नगर-नगर और डगर-डगर डोलना पड़ता है; किन्तु जिसे अपना लक्ष्य और उस तक पहुँचने का सीधा रास्ता मालूम होता है उसे अनपेक्षित से उलझकर समय नहीं बर्बाद करना पड़ता। कर्म का कोलाहल अकर्म अथवा दुष्कर्म के कारण ही अधिक सुनाई पड़ता है,

एक सौ आठ

सत्कर्म के सम्भार में तो उल्लास का कलकल होता है; आनन्द की तन्मयता होती है। मैं समझता हूँ—‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते’ का यही अर्थ है।

अनासक्ति का पथ ग्रहण-वर्जन के बीच का है। राज्य का परिहार करने से प्रजा का कल्याण नहीं होता, अशोक के धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन से होता है। हठपूर्वक किया हुआ त्याग श्रद्धापूर्वक किए हुए ग्रहण से श्रेष्ठ नहीं है। जैसे साँप केंचुल छोड़ता है वैसे कर्म का कञ्चुक आत्म-ज्ञान के बिना नहीं छूट सकता। ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः’ इसी कारण गहन है—त्यागपूर्वक भोग जीवन के महान् उन्नयन का परिणाम है। पद्म-पत्र जल में रहकर जल-स्पर्श नहीं करता, यही उसकी अनासक्ति है। ग्रीष्म ऋतु में सूखे-खनखनाते पेड़-पौदे तो बूँद भर जल के लिए तरसा ही करते हैं।

वस्तुतः निर्लेपता आत्मा का धर्म है, देह का नहीं। दैहिक निर्लेपता तो ठीक वैसी वस्तु है जैसे सरोवर के निर्मल जल में सूर्य-चन्द्र-तारे प्रतिविम्बित हो जाते हैं। राजर्षि जनक ऐसे ही विदेह थे।

आत्म-ज्ञान लोकसंग्रह का साधक ही है, बाधक नहीं। तभी जनक-सा ज्ञानी धनुर्भङ्ग के समय राम की मधुर मूर्ति निरख कर आशङ्कित हो सकता है; सीता-वनवास की घटना से द्रवित और विचलित हो सकता है। आत्मज्ञान मनुष्य को नीरस नहीं बनाता, प्रत्युत छलकते हुए रस को प्रगाढ़ता प्रदान करता है।



संस्कृत का सर्वप्रिय नाटक

संस्कृत के नाटक अपने काव्यात्मक ऐश्वर्य के लिए सुप्रसिद्ध हैं। रंगमंच पर अभिनीत होने की योग्यता उनकी सफलता का अन्तिम प्रमाण नहीं। यद्यपि अभिनय-कला का विशिष्ट ज्ञान उनके प्रणेताओं द्वारा स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुआ है; किन्तु उनकी महत्ता कदाचित् उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा से आलोकित होने के ही कारण है! वे पिछली कई-कई शताब्दियों से पढ़े ही गए हैं और पाठक दर्शक बने बिना भी उन्हें 'देखता' रहा है और 'देख-देख' कर आनन्द की गहराइयों में गोते लगाता रहा है। काव्यात्मक ऐश्वर्य से यहाँ मेरा यही तात्पर्य है। आजकल अभिनेयता की दुहाई देकर जैसे सस्ते तथाकथित नाटक लिखे जा रहे हैं, संस्कृत में उनका नितान्त अभाव है।

शूद्रक के 'मृच्छकटिक', भवभूति के 'मालतीमाधव' और विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में कितनी नाटकीयता और कितनी काव्य-समृद्धि है, दूध और पानी को बुद्धि से (यंत्र द्वारा नहीं) विलगाने से कम कठिन इसका विभाजन नहीं है। ऐसा कहकर मैं यही बतलाना चाहता हूँ, कि रम्यता का तारतम्य ही काव्य को नाटकीय उत्कर्ष प्रदान करती रही है—जैसे निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' जितनी सफल प्रबन्ध कविता की दृष्टि से है उतनी ही सफल नाटकीय विशेषताओं के अनायास स्फुरण के कारण भी। महाकाव्यों में कथनोपकथन की प्रणाली कदाचित् नाटकों से उधार ली गई है। रस के प्रतिष्ठापन का प्रथम प्रयास भी नाटकों में ही हुआ।

अश्वघोष के 'शारिपुत्र प्रकरण' आदि जिन तीन नाटकों की चर्चा की जाती है या भास के तेरह नाटकों के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध होता है, वह किसी भी अध्येता के लिए कम आकर्षक नहीं। मैंने 'स्वप्नवासवदत्तम्' का अध्ययन प्रायः बारह वर्ष की अवस्था में किया था तब उससे प्रिय ग्रन्थ संभवतः ढूँढ़े नहीं मिलता। उसकी भाषा की

सादगी और समृद्ध काव्य-कला ने अनजानते ही अध्ययन की दिशा बदल दी थी। अब भी यह मानता हूँ, कि 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की रचना के पीछे 'स्वप्नवासवदत्तम्' का ज्ञान, कलात्मक स्खलन से सावधान रहने के लिए ही सही, अवश्य रहा है।

आगे चल कर जब स्वयं क्लिष्ट तथा लच्छेदार संस्कृत साधिकार लिखने-बोलने लग गया तब भास और शूद्रक की सरलता फीकी पड़ने लगी, जैसे किसी ने शीतल जल-भरी गागर का मूल्य चार पैसा बतलाकर तत्काल तृषा शान्त करने की उसकी सरस क्षमता को ठोस मिट्टी बना दिया हो ! तब भवभूति और मुरारि में मन रमने लगा। भवभूति की सवेज्ञता ने बुद्धि को चमत्कृत कर दिया :—

‘यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं ? नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके ।
यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्य-वैदग्ध्ययोः ॥’

भाषा का सचेष्ट क्लिष्टता के कारण 'महर्षारचरितम्' सबसे सुन्दर, 'मालतीमाधवम्' मध्यम श्रेणी का और 'उत्तररामचरितम्' साधारण प्रतीत होना था।

भवभूते का उदात्त शैली में समास-बहुला गौड़ी रीति ही मेरे लिए, सविशेष आकाश थी। तभी मैं—

‘व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
नं खलु वहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्माबुद्गते चन्द्रकान्तः ॥’

ऐसे प्राणान्मादा भाव के प्रभाव में न आ सका था और मुझे—

‘प्रचलित-करि-कृत्तिपर्यन्तचञ्चलखाघात-
भिन्नेन्दु-निष्यन्दमानामृतश्च्योत-जीवत्कपालावली-
मुक्त चण्डाट्टहास-असद्भूरिभूतप्रवृत्तस्तुति-
श्वसदसितभुजङ्गभोगाङ्गदग्रन्थिनिष्पीडनस्फार—
फुल्लत्फणापीठनिर्यद्विपज्योतिरुज्जृम्भणोद्गामर—
व्यस्तविस्तारिदोःखण्डपर्यासितचमाधरम्

प्राच्यसाहित्य

ज्वलदनलपिशङ्गनेत्रच्छटाच्छब्दभीमोत्तमाङ्गभूमि-
 प्रस्तुतालातचक्रक्रियास्थूतदिग्भागमुत्तुंगखट्वांग
 शृंग-ध्वजोद्धूतिविचित्रतारागणं
 प्रभुदितकटपूतनोत्तालवेतालतालस्फुटत्करणं
 सम्भ्रान्त-गौरी-घनाश्लेषहृष्यन्मनस्त्र्यम्बका-
 नन्दि वस्ताण्डवं देवि भूयादभीष्ट्यै च हृष्ट्यै च नः ॥'

का ढक्कानिनाद आनन्द-वभोर कर सका था । जब उत्तररामचरित को भवभूति की सर्वश्रेष्ठ विभूति समझने के योग्य हुआ तब कालिदास हृदयाकाश को अपनी रजत-रश्मियों से बाँधने लग गए थे ।

रत्नावली प्रियदर्शिका और नागानन्द के प्रणेतार हर्ष की ओर आकर्षण का कारण दशरूपक तथा साहित्य-दर्पण के षष्ठ परिच्छेद में पुनः-पुनः रत्नावली के उद्धारणों का निरीक्षण ही था । पीछे चलकर मैंने अनुभव किया कि रत्नावली में पञ्च सन्धियों किं वा, बीज, बिंदु, पताका प्रकरी आदि का चाहे जैसा निर्वाह किया गया हो, ऐतिहासिक मूल्य भी उसका मुद्राराक्षस के तुल्य ही चाहे प्रमाणित होता हो, पर वह उच्चकोटि का नाटक कदापि नहीं है । नाटकीय स्थापत्य का आदर्श दूसरे शब्दों में 'टेकिनिकलिटी' का सम्यक् निर्वाह प्रस्तुत करना और है और उच्चकोटि की कला-सृष्टि और । उसकी नाटकीय ऊँचाई-कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' तक पहुँचती हो तो पहुँचती हो ! कवित्व तो 'मालविकाग्निमित्रम्' से बहुत ही निम्नकोटि का है । प्रियदर्शिका और नागानन्द रत्नावली से भी निम्न स्तर के हैं । कवित्व तथा नाटकीयता की दृष्टि से इन सबसे स्वप्नवासवदत्त अधिक सुन्दर है ।

कालिदास के रसज्ञ को संस्कृत-साहित्य के केवल तीन नाटक क्षण भर विलमा सकने की शक्ति रखते हैं—(१) मृच्छकटिक (२) मुद्राराक्षस और (३) उत्तररामचरित । इनकी विशेषता को इससे अधिक ऊँचे स्वर से नहीं उद्घोषित किया जा सकता कि ये कालिदास की कृतियों में अन्तर्भुक्त नहीं होते । निश्चय ही यह मेरा वैयक्तिक अनुभव है । प्रभाववादी आलोचक इसके विपरीत विचार उपस्थित करें तो मुझे अचरज न होगा । अध्ययन के क्रम में स्वयं मैंने ही आचार्य दिङ्नाग

एक सौ बारह

की 'कुन्दमाला' की विरुदावली 'माधुरी' के अनेकानेक पृष्ठों में बखानी थी। 'अनर्घराघव' पढ़ते जी नहीं भरता था।

संक्षेप में, कालिदास की सर्वोच्चता तक पहुँचने में देर तो हुई, पर फिर चित्तवृत्ति के दोलायित होने की आशङ्का न रही। और, अब सुदृढ़ आस्थावान् होकर यह कह सकता हूँ कि संस्कृत-साहित्य के सबसे बड़े कवि और सबसे बड़े नाटककार कालिदास ही हैं, और संस्कृत नाटकों में मेरा सबसे प्रिय ग्रन्थ 'अभिज्ञानशाकुन्तल' है। यों तो 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय' में भी कहीं-कहीं कवित्व तथा नाट्यकला का चूड़ान्त प्रकर्ष दिखलाई देता है, किन्तु कुल मिलाकर 'अभिज्ञानशाकुन्तल' बेजोड़ है। गेटे ने उसकी कलात्मक परिपूर्णता पर जो उद्गार प्रकट किया है या कवीन्द्र रवीन्द्र ने उस उद्गार की सार्थकता को प्रमाणित करते जो एक स्वतन्त्र समीक्षा प्रस्तुत की है, वह सब 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को देखते हुए पर्याप्त नहीं है। अभी वैसे शत-सहस्र पृष्ठों में उसके कवित्व और नाट्य की विवेचना अपेक्षित है। अभिज्ञानशाकुन्तल में आलोचना के योग्य अनेक विषय हैं और प्रत्येक विषय के विविध स्तर हैं। स्तर-स्तर पर सहृदयता के लिए अटकाव है। सबसे पहले सांस्कृतिक वैभव का आक्षितिज प्रसार प्राणों पर रजतातप का साया डालता है। ऐसे एक निःश्वास-उच्छ्वास तक का आभास नहीं मिलता जो सांस्कृतिक सौरभ से आर्द्र न हो। तपोवन से राजभवन तक, पृथ्वी से स्वर्ग तक संस्कृति का एक समान ताना-बाना बुना हुआ है। आश्रम-द्रुम, हिरनों के छौने, मालिनी का पुलिन, ऋषिकुमार, ऋषि-कन्याएँ, प्रौढ़ा गौतमी, वृद्ध कुलपति—सब एक ही सुरभि के बहुरंग सुमन हैं; एक ही चेतना की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। शकुन्तला का व्यक्तित्व इसी आवेष्टन में से उभरता है। वह छायातरुओं की स्निग्ध छाया और मधुमाधवी की स्वर्णरेणु, कुसुम-मञ्जरी और नवयौवना वनज्योत्स्ना से अपने सहज विकास की श्री सँजोती है। अकृत्रिम स्नेहरस से उसने चेतन-अचेतन सबको एक समान सींचा है। तभी जब पतिगृह-प्रयाण की बेला आती है तो मनुष्य और प्रकृति का बिछुड़न एक अकल्पित रूप में संघटित होता है। वन से बिछड़ते हुए मानव-मन की करुणा का ऐसा उद्रेक प्रथम और

प्राच्यसाहित्य

अन्तिम बार यहीं होता है। शून्य में तपोवन-तरुओं की ओट से वनदेवताओं का आशीर्वचन वरसता है—

‘रम्यान्तरः कमलनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमिताकम्बरोचितापः ।

भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥’

नाटकीयता की दृष्टि से इसमें—घटनाओं का गत्यात्मक घात-प्रतिघात, उनकी एकता और सार्थकता, चरित्र-चित्रण और स्वाभाविकता—सभी गुण हैं। द्विजेन्द्रलाल राय ऐसे प्रख्यात नाटककार का यही मत है।

नाटक घात-प्रतिघात में ही आगे बढ़ता है। प्रथम अङ्क में दुष्यन्त और शकुन्तला के मन में ज्यों ही परस्पर मिलने की आकांक्षा उत्पन्न होती है त्यों ही घर लौट आने के लिए दुष्यन्त के पास माता की आज्ञा पहुँचती है। तृतीय अङ्क में दोनों क्रम-क्रम से हृदय का आदान-प्रदान करते हुए आगे बढ़ते हैं—ज्यों ही नयनों का नयनों से बन्धन अधरों की ओर इलथ होता है कि गौतमी का गम्भीर स्वर सुनाई पड़ता है—

‘चक्रवाकवधु आमन्त्रयस्व सहचरम्,

ननु उपस्थिता रजनी ।’

चतुर्थ अङ्क में सचःपरिणीता, हृदय से असन्निहिता शकुन्तला पति के चिन्तन में डूबी हुई है, खोई हुई है; ऐसे ही में सुलभकोपन ऋषि दुर्वासा का अभिशाप उसके ध्यान-मग्न मन को विना छुए भाग्य-गगन में प्रलय पयोद-सा घुमड़ने-घहराने लगता है—

‘विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा

तपोनिधि वेत्सि न मामुपस्थितम् ।

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्

कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतमिव ॥’

ऐसी कितनी ही छोटी-बड़ी घटनाएँ घात-प्रतिघातसय वाँकपन के साथ नाटकीय कथानक की गति में प्रसरता लाती हैं। सच तो यह है कि प्रवाह में तीव्रता न लाएँ, ऐसी घटनाओं को नाटक के किसी भी अंश से नहीं हट्ट निकाला जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य-कला की कोई भी मर्मसूक् सूक्ष्मता कालिदास से छुपी रह कर नहीं छुटने पाई। अन्तर्द्वन्द्वों का भी यथास्थान अद्भुत चित्रण मिलता है।

एक सौ चंदह

शकुन्तला के रूप की ज्वाला का पतङ्ग बना दुष्यन्त भी मनुष्यता की सीमा का उलङ्घन नहीं करता। वह विवाह की परिधि में ही प्रणय का चाँद देखता है। उसे अपने मन के आर्य्यत्व पर अभिमान है—

‘असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा

यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु

प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥’

इससे भी तीव्र अन्तर्हृन्द् पङ्कज अङ्ग में प्रदर्शित होता है। एक ओर रूपज मोह है और दूसरी ओर राजोचित मर्यादा। काम और धर्म का वह द्वन्द्व दुष्यन्त के मन को चल-विचल कर देता है—

‘इदमुपनतमेवं

रूपमक्लिष्टकान्ति

प्रथमपरिगृहीतं

स्यान्नवेत्यध्यवस्यन् ।

अमर इव

निशान्ते

कुन्दमन्तस्तुपारं

न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोमि भोक्तुम् ॥’

अस्तु, ऐसे सारे नाटकाथ गुणों की गणना भी इतनी सङ्क्षिप्तता में संभव नहीं, उनका संघटन और विवेचन, अन्तर्दर्शन और रस-स्वादन तो अशक्य ही है।

और कवित्व की तो द्युत्ता ही कालिदास की वृत्तियों में उपलब्ध होती है, फिर अभिज्ञानशाकुन्तल में तो कदाचित् उसकी परिणति भी है। बहिरन्तर की सुपमा का ऐसा सजीव तथा मर्यादित वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। इस का परिपाक चतुर्थ अङ्क के ‘तत्र श्लोकचतुष्टयम्’ तक ही सीमित नहीं, करुणा हो या आसक्ति, हास्य हो या शान्ति—कालिदास इने-गिने शब्दों में ही जिस प्रकार उसे साकार कर देते हैं, वह संस्कृत के काव्य-नाटकों में और कहीं नहीं। यदि मुझसे कोई कालिदास का सर्वश्रेष्ठ श्लोक माँगे तो मैं उसे अभिज्ञानशाकुन्तल से ही दूँगा। और वह होगा :—

‘रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्

पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं

भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥’

महाकवि कालिदास की सर्वश्रेष्ठता

अन्तरङ्ग का अभिनिवेश बहिरङ्ग में ही सम्भव है। यदि शरीर न हो तो आत्मा का अधिष्ठान कहाँ हो सकता है? आकृति देखकर मनुष्य की आन्तर प्रवृत्ति का अच्छी तरह पता लगाया जा सकता है—‘यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति’। कुछ मनुष्य इसके अपवाद होते हैं, पर अपवाद नियम नहीं होता।

किन्तु, कवि-कुल-गुरु कालिदास का अन्तरङ्ग परिचय प्राप्त करना जितना कठिन है, बहिरङ्ग परिचय उतना ही सुलभ नहीं। रिसर्च-स्कॉलरों ने बड़ी ही लगन के साथ उनके विषय में खोज की है, परन्तु उनका बहिरङ्ग भूतकाल के उस तमस्कांड में अन्तर्हित हो गया है, जिसे तत्त्वतः ढँढ़ निकालने के लिए अभी बहुत-से वर्तमान को भूत बनना पड़ेगा और भविष्यत् का वर्तमान। यदि सच्ची साध होगी, तो कौन कह सकता है, उन अन्धकार की तह तक प्रतिभा के प्रखर प्रकाश की पहुँच हो सकती ही नहीं?

कालिदास चाहे ईसा के पूर्व रहे हों, या पीछे, गवेषणाओं के द्वारा उनका स्थिति-काल जब भी ठहराया जाय; किन्तु मेरी इन बातों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं, जिन्हें अभिव्यक्त करने की मैं चेष्टा करूँगा। बहिरङ्ग-परिचय के बिना अन्तरङ्ग की परख हो सकती है या नहीं, इसी दृष्टि से मेरे इस लुट्ट निबन्ध को देखना अधिक उपयुक्त होगा। संस्कृत-कविता के लिए कहा गया है—

‘यस्याश्चौरश्चिकुरानकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो दासः कवि-कुल-गुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ?’

महाकवि कालिदास की सर्वश्रेष्ठता

अर्थात्—चौर जिसका केश-पाश मयूर कर्णभरण, भास हास, कवि-कुल-गुरु कालिदास विलास, हर्ष हर्ष और बाण हृदय में रहनेवाला पञ्चबाण हो, तो बतलाओ, वह कविता-कामिनी किस सहृदय के कौतुक के लिए न होगी ?

इस श्लोक में ध्यान देने योग्य दो बातें हैं, एक तो यह कि किसी दूसरे कवि के लिए सारे पद्य में 'कवि' शब्द का भी प्रयोग नहीं किया गया और कालिदास को 'कवि-कुल-गुरु' शब्दतः कहा गया है। इसी 'कवि-कुल-गुरु' शब्द से यह अर्थ निकलता है कि बाकी अधिक-से-अधिक 'कवि-कुल' मात्र हैं, उनके गुरु तो कालिदास ही हैं।

दूसरी बात—सामान्य स्त्री के लिए आभरणादि जो कुछ भी उपयुक्त हो, किन्तु 'कामिनी' 'विलास'-वती ही हो सकती है। इसी लिए कविता-कामिनी के लिए भी मन्त्रों बढ़कर वस्तु विलास है, और वह हैं कालिदास। कामिनी के लिए काम कोई विशिष्ट वस्तु नहीं, किन्तु कामजन्य आनन्द—विलास ही सब कुछ है, इसलिए 'बाण' चाहे काम हो, परन्तु विलास नहीं है। वह हो भी नहीं सकता; क्योंकि कालिदास उसके अनङ्ग भावों के रूप-विलास हैं।

कालिदास की इसी सर्वश्रेष्ठता को लक्ष्य कर किसी ने कहा है—

‘पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा ।

अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादानामिका सार्थवती बभूव ॥’

अर्थात्—कवियों की गणना के समय किसी ने कालिदास का नाम लेकर कनिष्ठिका पर अपनी एक उँगली रखी। आगे कोई भी दूसरा कवि वैसा न देख पड़ा, इसलिए अनामिका पर किसी का नाम न आया, फलतः 'अनामिका' सार्थक-नामवाली हुई। अनामिका = अर्थात् जिसका कोई नाम न हो।

यह बात तो सर्ववादिसम्मत है कि आर्य-कवियों में व्यास-वाल्मीकि के बाद सर्वश्रेष्ठ कालिदास ही हुए। धन के साथ-साथ कविता द्वारा जितनी कीर्ति कालिदास को मिली है, उतनी और किसी को नहीं। मम्मट भट्ट ने काव्य का प्रयोजन वृत्तज्ञाने हृत् लिखा है—

‘काव्यं यशसेऽर्थवृत्ते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिवृत्तये कान्ता-सम्मिततथोपदेशयुजे ॥’

एक सौ सत्रह

शास्त्रसाहित्य

इतने ही प्रयोजनों से काव्य बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इनमें सर्वप्रथम, किन्तु अनिश्चय दुर्लभ पदार्थ यश है, और उसके विषय में उन्हीं ने कहा है 'कालिदासादीनामिव यशः' अर्थात् कालिदासादि की तरह यश की प्राप्ति होती है। यशःप्राप्ति में कालिदास की ही पहले याद आती है।

फिर उनकी इस सर्वश्रेष्ठता का कारण क्या हो सकता है ? मेरी समझ से लोक-प्रियता। लोक-प्रियता से मेरा मतलब दोनों पक्षों के लोक-प्रिय होने से है। अर्थात् लोक कालिदास को चाहता है, किन्तु कालिदास भी लोक को ही पसन्द करते थे। लोक की परख, मनोवैज्ञानिकों की तरह मनुष्य के मन की परख कालिदास में जितनी है, आर्यकवियों में और किसी में नहीं।

ध्वन्यालोककार ने कहा है—

‘शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।

तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतिष्ठति ॥

शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।

स एव वीतरागश्चेत्तीरसं सर्वमेव तत् ॥’

अर्थात्—शृङ्गार ही एक ऐसा मनमोहन मधुर रस है, जिसके कारण काव्य में मधुरता आती है, इसलिए यदि कवि शृङ्गारी हुआ, तब तो उसकी सृष्टि अवश्य रसमयी होगी, अन्यथा सब नीरस। यहाँ पर ‘शृङ्गारी’ शब्द का अर्थ लौकिक शृङ्गारवान् या स्त्री-व्यसनी नहीं, किन्तु शृङ्गाररस के अनुकूल विभावादि का अतिशय-समर्पण मात्र है। अभिनव-गुप्ताचार्य ने ध्वन्यालोक-लोचन में इसको लुप्तपट्ट कर दिया है—

‘शृङ्गारोक्तविभावानुभावव्यभिचारिचर्दणारूपप्रतीतिमयो नतु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम् । अतएव भरतमुनिः ‘कवेरन्तर्गतं भाव’ ‘काव्यार्थान्तरं भावयति’ इत्यादिषु कविशब्दमेव मूर्द्धाभिषिक्ततया प्रयुक्ते इति ।’

शृङ्गार की प्रधानता का कारण आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी कितना सुन्दर बतलाया है—

‘शृङ्गारसो हि संसारिणां नियमेनानुभव-विषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः ।’

एक सौ अठारह

शृङ्गार रस की सृष्टि में अधिक सफलता का सम्भव भी इसीलिए है कि इसका कुछ-न-कुछ अनुभव तो 'मनुष्येतर' प्राणियों को भी रहता है, सहृदय कवि की बात ही क्या है ? फिर अनुभूतिमय कविता क्यों न सर्वमुखप्रशंसनीय होगी ?

कालिदास केवल शृङ्गारी कवि थे । अपने कला-प्रदर्शन के लिए उन्होंने इसी रस को चुना, और अलौकिक अनुभूति तथा प्रगल्भ प्रतिभा के प्रसाद से उन्हें इसमें अपूर्व सफलता भी मिली । कालिदास विद्वान् से अधिक प्रतिभाशाली, सहृदय, प्रकृति-पर्यालोचक महाकवि थे; उनकी सर्वश्रेष्ठता विद्वत्ता की सर्वश्रेष्ठता नहीं है । उनकी कविताएँ हृदय-स्पर्शिनी होने के कारण सर्वश्रेष्ठ, अत्यधिक श्रद्धेय हैं ।

उपा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, नीरव रजनी, विपिन, वसन्त-पावस-शरद् प्रभृति प्रकृति की सारी वस्तुएँ शृङ्गाररस के विभाव ही हैं । ये विभाव प्रकृति-प्रेक्षक-मात्र के लिए स्वानुभवनीय हैं । फिर कालिदास तो सूक्ष्मदर्शी निरीक्षक थे । यही कारण है कि उनकी कविता मानव-प्रकृति की अनुभूत वस्तु हैं ।

मनुष्य अपनी प्रकृति की तस्वीर देखना उतना ही पसन्द करता है, जितना आईने में अपनी तस्वीर देखना । इसलिए वह अपने मन से मिलती-जुलती जिस किसी चीज को देखेगा, उसकी अवश्य प्रशंसा करेगा; उसे अवश्य अपनावेगा । उसे ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी ने उसके मन की बात कैसे जान ली ? और, यदि किसी में यह शक्ति मौजूद है, तो वह अवश्य ही श्रद्धेय है ।

मैं दो-एक उदाहरण देकर इसे और स्पष्ट करने की चेष्टा करूँगा । जब आपकी कोई अतिप्रिय वस्तु आँखों से ओझल होना चाहती है, और लज्जा या संकोचवश आप उसे वैसा न होने देने में असमर्थ हैं, उस समय मन की क्या दशा होती है, प्रत्येक अनुभवी समझ सकता है । राजा दुष्यन्त जब आश्रम में गया, तो शकुन्तला के सामने ही दोनों सखियों ने हँसी-मजाक करना शुरू कर दिया । फिर क्या था ? वह खीझ उठी, उठकर जाने लगी । राजा ने जब से शकुन्तला को देखा था, उसकी चित्तवृत्ति ठिकाने न थी । शकुन्तला निरुपम सुन्दरी थी । वह उसकी रूप-माधुरी का पान करना ही पसन्द कर रहा था । उसने

प्राच्यसाहित्य

चाहा, मैं उसे न जाने दूँ, पर उसे यह अधिकार प्राप्त था कहाँ? इच्छा की अति प्रबलता के कारण अब उस समय की उसकी अन्तर्दशा पर दृष्टिपात करें—

‘अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः ।

स्वस्थानादचलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥’

वह कहता है—‘अभी मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं शकुन्तला के पीछे-पीछे चला जा रहा था और लज्जा ने मुझे पीछे घुमा दिया । यद्यपि मैं अभी अपनी जगह से जरा नहीं हिला, पर जैसे कुछ दूर जाकर लौट आया ।’ पाठक समझ सकते हैं, इसमें कामि-मनोभाव का कितना सुन्दर चित्रण है । यह कविता अनुभूति-भूषित है, इसलिए इसकी हृदयस्पर्शिता सहृदयसंवेद्य है ।

पार्वती की अलौकिक तपस्या से मुग्ध होकर अपने कपटी ब्रह्मचारी-वाले रूप को छिपाकर भगवान् शङ्कर स्वरूपतः प्रकट हो गये, फिर क्या था ?

‘तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगवष्टि-

निक्षेपणाय पदमुद्धतमुद्वहन्ती ।

मार्गाचलम्बतिकराकुलितेव सिन्धुः

शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥’

अर्थात्—उन्हें देखकर पार्वती सिहर उठीं, उनकी सारी देह में स्वेद हो आया, आगे रखने के लिए उठाये हुए पैर को उठाये ही रहीं । उनकी उस समय की दशा उस नदी-सी (धारा) थी, जो रास्ते में पड़े पर्वत की ठोकर से आकुल हो जाती है; न आगे बढ़ सकती है, न पीछे हट सकती है ।

यह अवस्था ‘गच्छति पुरश्चरीरं’ से भी बढ़ गई है । मनोवैज्ञानिकों की भाषा में इसे Mental Conflict कहते हैं । तुलसीदासजी ने कौशल्या के ‘राखि न सक नहिं कहि सक जाहू; उभय भौंति उर दारुन दाहू’ में इसी द्विविधावस्था का चारु चित्रण किया है । यह मानव-मस्तिष्क का कितना अद्भुत प्रकटीकरण है, और कवि को इसकी कितनी अभिज्ञता है, स्वयं सोचें । इसी प्रकार—

एक सौ बीस

‘स्रगियं यदि जीवितापहा, हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।

विषमप्यमृतं कचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥’

अर्थात्—यदि यह माला ही प्राणहारिणी है, तो मेरे हृदय से लगने पर मुझे भी क्यों नहीं मारती ? अथवा, ईश्वरेच्छया कहीं हलाहल अमृत और अमृत विष हो जाता है ।

कुसुममाला से स्पृष्ट होते ही इन्दुमती निष्प्राण हो गई, तब महाराज अज उपर्युक्त शब्दों में धिलाप करने लगे । मैं यहाँ मनुष्य के मन की बात बतलाना चाहता हूँ । अपनी प्राणाधिक प्रियतमा के असह्य असामयिक मरण से कोई भी प्रेमी मनुष्य पहले मरना पसन्द करेगा । अज ने भी वैसा ही किया । इन्दुमती के गले से निकालकर चुपचाप उन्होंने वह माला अपने हृदय पर रख ली । पर वह न मरे । इन्दुमती तो उसे छूते ही निष्प्राण हो चुकी थी, पर वह—‘निदधानः’—रखते ही न सही,—‘निहिता’—रक्खी रहने पर तो मर जाते !

अब यहाँ ‘ईश्वरेच्छया’ के अतिरिक्त आस्तिक हृदय से दूसरा शब्द निकल ही नहीं सकता । हाँ, उनका सहृदय हृदय भी उबल पड़ा । वह कहने लगे कि यदि यह फूल की माला किसी को मार सकती है, तो प्रिया के इस आकस्मिक विरह से कातर मुझ अभागों को भी क्यों नहीं मारती ? गम्भीर आस्तिक प्रेमी मानस ने दूसरे ही क्षण दुःखभरी सन्तोष की साँस ली—आह ! (‘वा’) यह ईश्वर की अद्भुत इच्छा है, वह चाहे तो अमृत को विष और विष को अमृत बना दे । अन्यथा कुसुम की कोमल कमनीय मालिका, और प्राणहारिणी !

क्या यह कविता मनुष्य के अतिसूक्ष्म अन्तर्भाव के विचित्र चित्रण का नमूना नहीं ? इन पंक्तियों में दिल को पार कर जानेवाला असर नहीं ?

बड़े-बड़े राजे भी कभी-कभी अपनी परिस्थिति से दुःखित हो उठते हैं । वे मन-ही-मन कहते हैं, अच्छा होता, यदि मैं एक साधारण व्यक्ति होता । दिन-रात की मानसिक उलझन की अपेक्षा सादा जीवन अधिक सुखद है । पाठक देखें, ऐसी वृत्ति का वर्णन कालिदास ने कितना सुन्दर किया है । राजा दुष्यन्त राजकीय कार्यों से ऊबकर कह उठता है—

प्राच्यसाहित्य

‘औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा,
क्रिभाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥’

अर्थात्—प्रतिष्ठा मन की उत्सुकता को ही मिटा सकती है, ‘मैं भी वैसा होता’ यह भाव उस स्थान पर पहुँचते ही मिट जा सकता है। किन्तु, अधिकार की रक्षा बड़ी ही मुश्किल है। मैं तो समझता हूँ, इस राज्य से श्रम ही अधिक प्राप्त होता है, सुख नहीं, जैसे अपने हाथ से ढण्डा पकड़े रहने पर छाते से।

कहा जाता है, उस जमाने में छाते का ढण्डा बड़ा भारी होता था।

शेक्सपियर ने भी कितना सुन्दर कहा है—

‘Uneasy lies the head
That wears the crown.’

जिसके सर पर ताज रक्खा है, उसका मन सदा अशान्त रहता है।

इसी प्रकार ‘दर्भाङ्कुरेण चरणक्षत’ में शकुन्तला के नवोदित प्रेम का तथा ऐसे-ऐसे अनेक पद्यों में विभिन्न मनोभावों का बड़ा ही अद्भुत वर्णन किया है, जिसे स्थानसङ्कोच से यहाँ नहीं दिखा सका।

प्राकृतिक चित्रण—

जिस प्रकार दोषाभाव भी एक गुण ही कहलाता है, और जिस प्रकार (सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्) विलकुल सादगी में भी एक तरह का अपार सौन्दर्य रहता है, उसी प्रकार किसी भी वस्तु का कविता में ठीक वैसा ही वर्णन करना कवित्व-कला की प्रभूत विभूति का परम प्रत्यायक है। मानव-प्रकृति के चारुचित्रण में शेक्सपियर की इसी तरह की अपूर्व सफलता पर मुग्ध होकर किसी समालोचक ने कहा था—

‘O Nature ! O Shakespeare, which of ye drew from the other !’

अर्थात् ‘ओ प्रकृति ! और ऐ शेक्सपियर ! तुम दोनों में कौन किसका प्रतिविम्ब है ?’ आन्तरिक स्वाभाविक चित्रण में शेक्सपियर ने मानव-हृदय पर अपना ऐसा ही अमिट अधिकार जमा लिया है। कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास भी इस कान्त कला में नितान्त

एक सौ वाईस

निपुण हैं। प्राकृतिक वस्तुओं के हार्दिक विशद वर्णन में यह भी अपना सानी नहीं रखते। इनकी सर्वश्रेष्ठता में इस नैसर्गिक निर्दोष वर्णन-नैपुण्य का भी अवर्णनीय हाथ रहा है। हिन्दी के प्राचीन कवियों में सूर और तुलसीदास इस कार्य में अतीव दक्ष हैं। इधर पन्त जी भी प्रकृति-वर्णन-परायण देख पड़ते हैं, पर इनकी कविताओं में मुझे कुछ कृत्रिमता का भी आभास मिलता है, जैसे कोशिश की गई हो। पर, कालिदास की वह सतत कमनीय सरस सूक्ष्म-निरीक्षणता तो और कहीं मिलने की नहीं।

इनके प्राकृतिक वर्णन की कुछ परीक्षा कीजिए—

‘प्रोवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चाद्ध्वेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
शण्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदप्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति ॥’

रथ को पीछा करते देख जब हिरन जोरों से भागा जा रहा था, तब दुष्यन्त ने सारथी से कहा—‘यह हिरन पीछे चले आते हुए रथ में, गर्दन घुमाकर, बार-बार आँखें गड़ाता हुआ भागा चला जा रहा है। वाण लगने के भय से मानों, पिछले धड़ को आगे के हिस्से में बिलकुल मिला लिया है। अभी कुछ ही देर पहले जो इसने अपने मुँह में घास ली थी, उसका चबेण पूर्ण न हो पाया था, तब से ही यह दौड़ने लगा। थकावट से जब हाँफ आने लगी, तो इसका मुँह जरा खुल गया, जिससे वह अर्द्धचर्वित घास रास्ते में गिरती जाती है। हे सारथी, देखो न, चौकड़ी भरने के कारण यह अधिकांश आकाश-मार्ग से जा रहा है, और कभी-कभी ही जमीन पर।’ इसमें हरिण-जाति का स्वभाव अङ्कित किया गया है। जरा तीसरी पंक्ति की सूक्ष्मता पर ध्यान दें। सचमुच इस वर्णन को पढ़कर मृग के भागे जाने की तस्वीर आँखों के सामने आ जाती है।

‘नीवाराः शुक्रकोटराभंकमुखाद्भ्रष्टास्तरुणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिगुदोफलाभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिज्ञगतयश्शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिप्यन्दलेखाङ्किताः ॥’

प्राच्यसाहित्य

तोतों के घोंसलों से गिरे, पेड़ों के नीचे-नीचे, नीवार के ढण्ठल पड़े हैं। कहीं-कहीं इड्डुदी के फल को तोड़नेवाले पत्थरों के चिकने-चिकने टुकड़े दीख पड़ते हैं। 'आश्रम में हमें कोई नहीं मार सकता' इस दृढ़ विश्वास से ये जङ्गली हिरन हमलोगों की आवाज सुनकर जरा चौंकते भी नहीं। और देखो, (आप भी जरा गौर फरमाएँ) वस्कुल के किनारे से मन्द-मन्द गिरती बूँदों से यह तालाब का रास्ता कैसा चिह्नित हो गया है। देखते हैं न, इसे कहते हैं स्वाभाविक वर्णन। कभी मोटर या ट्रेन से जाते समय इनके 'यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलताम्' की, तथा हवाई जहाज से उतरते समय 'शैलानामवरोहतीव शिखरात्' की स्वाभाविकता पर दृष्टिपात कीजिए। यद्यपि कालिदास के समय हवाई जहाज का आविष्कार न हुआ होगा, और वे हिमालय या उज्जैन की तरह देखकर उसका वर्णन न कर सके होंगे, पर जब विलकुल सही पाएँगे, तो आप आश्चर्यित होकर दाँतों तले उँगली दबा लेंगे। इस तरह के स्वाभाविक वर्णन इनके तमाम ग्रन्थों में भरे पड़े हैं, उनमें मुख्य-मुख्य का भी दिग्दर्शन इस अल्प स्थान में असम्भव है।

व्यञ्जना-विचार—

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने लिखा है—

‘प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥’

अर्थात्—महाकवियों की वाणी में मुख्य अर्थ के अतिरिक्त एक प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ भी अवश्य रहता है, और वह उतना ही सुन्दर होता है, जितना अङ्गनाओं की प्रत्यङ्ग-कान्ति से अन्य ललित-लावण्य। पुनः 'यन्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः' अर्थात् महाकवि के उन्हीं शब्दों और अर्थों को यत्नपूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसी उपदेश के अनुसार मैं पाठकों के निकट कालिदास के एक पद्य की व्यंग्य-श्रेणि का नमूना पेश करता हूँ। अप्पय दीक्षित ने ध्वनि-काव्य के उदाहरणों में पहले इसे ही कहा है।

मम्मट भट्टादि के मत से, काव्य के सामान्यतः तीन भेद हैं, उत्तम मध्यम और अधम। किन्तु पण्डितराज के मतानुसार काव्य (कविता)

एक सौ चौबीस

चार प्रकार के होते हैं, उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम । उत्तमोत्तम का लक्षण रसगंगाधर में बतलाया है—

‘शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ, कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदाद्यम् ।’

अर्थात्—शब्द और अर्थ (सामान्यतः) गौण होकर जिस कविता में किसी अतिशय चमत्कारपूर्ण बात को अभिव्यक्त करते हैं, वह कविता उत्तमोत्तम कहलाती है । यहाँ पर ‘कमपि’ का अर्थ चमत्कारपूर्ण है, इसीलिए यह लक्षण ‘अतिगूढ़ व्यंग्य’ तथा स्फुट व्यंग्य में लागू नहीं होता; क्योंकि व्यंग्य यदि बहुत अधिक छिपा हो, बहुत समय तक परिश्रम करने के बाद ज्ञात हो सके, तो उसमें चमत्कार रह ही नहीं जाता । और, जहाँ व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ की तरह स्फुट प्रतीयमान हो, अर्थात् असहृदयों को भी आपाततः प्रतीत हो जाय, तो उसमें भी कोई चमत्कार नहीं रहता । इसलिए ये दोनों ही उत्तमोत्तम काव्य नहीं हो सकते । ये गुणीभूतव्यंग्य कहलाते हैं । इसी प्रकार ‘गुणीभावितात्मानौ’ कह देने से अपराङ्ग-व्यंग्य तथा वाच्य-सिध्यङ्ग व्यंग्य में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इन दोनों में यद्यपि व्यंग्य रहते हैं, फिर भी इनके शब्द और अर्थ गुणीभावितात्मा = अर्थात् अपनी अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण बातें बतलानेवाले नहीं होते । यों तो व्यंग्य सामान्यतः चमत्कारपूर्ण होंगे ही, परन्तु विशेषतया शब्दार्थ-युगल की शक्ति से निस्सृष्ट अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारकारी होने के पहले वे उत्तमोत्तम काव्य के द्योतक नहीं हो सकते । इनका सूक्ष्म विवरण मैं कभी अन्यत्र प्रस्तुत करूँगा । यहाँ तो मुझे कालिदास की कविता में उत्तमोत्तमता दिखलाने के लिए ही कुछ कहना पड़ा है ।

यह कविता ‘पार्वतीतपश्चर्या’ (कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग) की है—

‘स्थिताः ऋणं पद्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।

वलीषु तस्यास्स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदविन्दवः ॥’

अर्थात्—वर्षाऋतु के आरम्भ में पानी की पहली-पहली बूँदें जब पार्वती पर पड़ीं, तब वे क्षण भर पलकों पर रुकीं, फिर अधर पर आईं, वहाँ से स्तनों पर गिरीं, अनन्तर त्रिवलियों पर फैलीं, और पुनः क्रमशः नाभि में प्रविष्ट हो गयीं ।

प्राच्यसाहित्य

यह तपस्समाधि का वर्णन है। इसमें बतलाया जा रहा है कि यद्यपि बहुत काल तक तपस्विनी देवी की देह गर्मी की लू में झुलस चुकी थी और इन बूँदों के पड़ने पर उन्हें (पार्थी को) कुछ सुख की प्रतीति होनी थी, तथापि वह पूर्ववत् समाधि में निश्चल रही। समाधि की यह निश्चलता ही यहाँ ज्यग्य है।

समाधि के लिए कहा गया है—

‘नासाग्रन्यस्तनयनः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।

ध्यायेत मनसा देवमुरो विष्टश्च चाग्रतः ॥’

अर्थात्—उपासक नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ (गीता में भी भगवान् ने कहा है—‘सम्प्रेत्य नासिकाग्रं च दिशश्चानवलोकयन्) मुँह बन्द कर, छाती अकड़ा और बिलकुल स्थिर होकर हृदय से ब्रह्म का ध्यान करे।

यहाँ पर ‘पद्मसु स्थिताः’ कहने से ‘नासाग्रन्यस्तनयनत्व’=अर्थात् आँखों का अर्धनिमीलनत्व व्यक्त होता है; क्योंकि यदि आँखें बिलकुल खुली होतीं, तो पलकों भी अवश्य ऊपर होतीं, फिर उन पर बूँदों का रहना असम्भव था, और यदि वे बन्द होतीं, तो भी उन पर क्षण भर बूँदों का रुक सकना कल्पनागम्य नहीं।

‘ताडिताधराः’ कहने से पलकों से ढुलककर सीधे मुँह में न जाकर बूँदों का अधर पर गिरना ‘संवृतास्यत्व’ का द्योतक है।

‘पयाधरोत्तेधनिपातचूर्णिताः’ से उरोविष्टम्भन—छाती अकड़ाए रहना—प्रतीत होता है; क्योंकि जरा भी सिकुड़न होने से स्तनों का स्वरूप सङ्कुचित होता, फिर उनके उभार पर बूँदों का गिरना सम्भव ही न था। इसी प्रकार ‘वलीपु स्खलिताः’ और ‘नाभि प्रपेदिरे’ कहने से भी उनका उरोविष्टम्भन ही दृढ़ होता है; क्योंकि बूँदें सिकुड़ी छाती से किसी प्रकार ढुलकतीं भी तो त्रिवलियों पर फैल कर ही रह जातीं, नाभि की सिकुड़न में उनका प्रवेश केवल असम्भव था। बूँदों का पहले पद्म फिर अधर इत्यादि पर क्रम से गिरना ही सुनिश्चलत्व का अभिव्यञ्जक है, अन्यथा मुख आदि के जरा हिलने पर भी बूँदों का यह क्रमशः पतन नहीं हो सकता था।

एक सौ छव्वीस

पुनः इन्हीं विशेषणों से पार्वती के अलौकिक सौन्दर्य की भी अभिव्यक्ति होती है। 'स्थिताः' पद से पलकों की सघनता ज्ञात होती है (जो नयन-सौन्दर्य के लिए अतिशय अपेक्षित है,) अन्यथा पलकों पर पानी का टिकना कैसे सम्भव हो सकता है ?

'क्षणं' कहने से पद्मपंक्ति की मसृणता प्रतीत होती है, अर्थात् पलकें इतनी चिकनी थीं कि उन पर क्षण भर हाँ बूँदें रुक सकतीं। 'ताडिताधराः' शब्द से अधर का सौकुमार्यातिशय द्योतित होता है, साथ-साथ समाधि-विभूति का द्योतन और गौरी का देहभाव से गत-ज्ञान, अन्यथा पलकों से दुलकी बूँदों से अधरों को चोट पहुँचती ! 'पयोधरात्सेधनिपातचूर्णिताः' पद से बुच-कलश की कठिनता जानी जाती है, नहीं तो उस पर गिरते ही बूँदें चूर-चूर क्यों हो जातीं ? 'वलीपु स्खलिताः' कहने से छार्टी सीधी कैये रहने पर भी त्रिवलियों की सुस्पष्टता सूचित होती है, जो नारी-सौन्दर्य की पर-प्रकृष्टता है। 'नाभिं प्रपेदिरे'—विशेषतः उराविष्टम् होने पर भी बूँदों का नाभि में गिरना नाभि की गहराई का द्योतक है, जिसका वर्णन ललना-लावण्य-निदर्शन के लिए आर्यसाहित्य में चारों ओर मिलता है। ये इतने व्यंग्यार्थ सुस्पष्ट वाच्यातिशायी हैं, इसलिए यह उत्तमोत्तम कविता हुई। मैं यहाँ इनकी इस प्रकार की कविताओं को निर्दिष्ट कर पाठकों के मस्तिष्क को अधिक कष्ट देना नहीं चाहता, अन्यथा 'पृक्तस्तुपारैर्गिरि-निर्मेराणां, 'कार्यासैकतलीन' प्रभृति इनकी अधिकांश कविताएँ विविध व्यंग्यों से परिपूर्ण हैं, जिनका मनन सहृदय पाठकों को अवश्य करना चाहिए।

उपमा कालिदासस्य—

कहते हैं, कालिदास की उपमाएँ हृदय पर गहरी चोट करती हैं। सचमुच बात कुछ है भी ऐसी ही। नैपथ्यकार महाकवि श्रीहर्ष यदि उत्प्रेक्षा-गुरु हैं, तो निस्संशय कालिदास 'उपमा-वल्लभ' हैं। इनकी उपमाओं में न 'भाव' की तरह बेटवपन है, और न श्रीहर्ष की तरह दुरुद्धता, या अस्वाभाविकता। इनकी उपमाएँ अनुपम हैं। खालिङ्ग-पुलिङ्ग तक का ठीक-ठीक विचारकर यह अमानोपमेय-भाव लाते हैं, और-और कवियों में इसका कृत्यन्ताभाव है। कुछ आप भी देखें—

प्राच्यसाहित्य

‘तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥’

सूत्रधार नटी से कहता है—‘प्रिये ! तुम्हारे हृदय-हारी गीत-राग से मैं इस प्रकार खिंच गया, जैसे अत्यन्त वेगशाली इस हिरन से यह राजा दुष्यन्त ।’ ‘सारङ्ग’ पुंलिङ्ग है तो राग भी वही । इधर राजा दुष्यन्त उपमान है तो उधर वही स्वयं उपमेय ।

‘गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः ।

चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥’

अर्थात्—मेरा शरीर तो आगे-आगे जा रहा है, किन्तु अशान्त चित्त बार-बार पीछे की ओर मुड़ता है । जिस प्रकार हवा की ओर रहनेवाले झण्डे का रेशमी झिलमिला वस्त्र पीछे की तरफ ही घूम-घूम जाता है । इसमें भी पूर्ववत् लिङ्ग-साम्य है, तथा अलौकिक प्रकृति-निरीक्षण । एतदतिरिक्त ‘वागर्थाविष संपृक्तौ’, ‘पुरस्कृता वर्त्मनि’, ‘अस्त्युत्तरस्यां दिशि’ प्रभृति इनकी सैकड़ों उपमाएँ एक से दूसरी बढ़कर सुन्दर, चुटीली तथा स्वाभाविक हैं । मैं उनकी विशेषताओं का दिग्दर्शन किसी स्वतन्त्र निबन्ध में करूँगा ।

रस-वर्णन—

कालिदास सुकुमार कवि थे । उनकी सौन्दर्य-प्रियता आबालवृद्ध-प्रसिद्ध है । इसलिए वह उद्धृत रसों के वर्णन में भी सौन्दर्य ही देखते रह गये, औद्धत्य-पूर्ण कविताएँ नहीं लिखीं । सच तो यह है कि इनकी कविता शब्द-प्रधान नहीं है, और रौद्र-वीरादि रसों में शब्दों का चुनाव कुछ अपेक्षित-सा होता है । इसी शब्द-चित्र के चलते भवभूति की वीररसवाली कविताएँ कुछ अधिक प्रौढ़-सी मालूम पड़ती हैं । इसलिए कालिदास की कविता में सौन्दर्य-सरस भाव-प्रवणता का अवलोकन ही उचित होगा ।

वीररस—

‘सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्ठात्पवतावधृतः ।

अंगारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥’

एक सौ अट्ठाइस

रुधिर-प्रवाह से संग्रामभूमि पङ्किल हो गई है। धूल का कहीं नामोनिशान भी नहीं है। ऐसे समय में पहले से ही जो धूल ऊपर-ऊपर उड़ रही थी, उसे हवा ने तितर-बितर कर रक्खा है। वह उड़ती हुई धूल उस प्रकार सुशोभित हो रही थी, जिस प्रकार धधकती हुई आग के ऊपर उसकी धधक से पहले का धुआँ। इस भयंकर रक्त-पात में इतना अधिक सौन्दर्य देखना केवल कालिदास के लिए ही सम्भव है। तुलसीदासजी ने इसी की छाया ली है—

‘रुधिर गाढ़ भरि-भरि जमेउ, ऊपर धूरि उड़ाइ ।

जिमि अँगार-रासीन पर, मृतक-धूम रह छाइ ॥’

वीर और शृङ्गार के अद्भुत सम्मिश्रण का कुछ नमूना देखें—

‘कश्चिद् द्विषत्स्वङ्गाहतोत्तमांगः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।

वामांगसंसक्तपुरांगनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥

परस्पररेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाचनोः समकालमेव ।

अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्राथितयोर्विवादः ॥’

अर्थात्—किसी का गला जब शत्रु की तलवार से उतारा गया, तो वह तुरत स्वर्ग पहुँच गया। बाईं ओर से एक सुन्दरी अप्सरा को चिपकाये हुए वह अपने धड़ को युद्ध-भूमि में नाचते देख रहा था। कोई दो वीर आपस में ही जूझ गये, दोनों की प्राण-वायु एक साथ निकली। वे दोनों ही साथ-साथ स्वर्ग पहुँचे और वहाँ एक ही अप्सरा को चाहने लगे, फलतः उस स्थान में भी उन्हें झगड़ना पड़ा। इसी प्रकार दशरथजी के मृगया-वर्णन में भी इन्होंने ऐसा ही बमाल बिखा है, जिसे इन्हें न चाहनेवाले इनकी कमजोरी समझते हैं।

‘अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं

न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्मीचकार ।

सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णं

रत्तिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥’

राजा दशरथ के घाड़े के पास ही सुन्दर पंखोंवाला मोर उड़ रहा था, जिसे उन्हें तत्क्षण मारना था। पर, उन्होंने वैसा किया नहीं; क्योंकि उसी समय उन्हें उन पंखों को देखकर प्रिया के, रंग-विरगे फूलों से गुथे सुरत-श्लथ कमनीय केश-पाश की याद आ जाती थी।

प्राच्यसाहित्य

करुणारस—

इन्दुमती के मरने पर अज विलाप करता है—

‘कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त ! साधनं किमिवान्यत् प्रहरिष्यतो विधेः ॥
अथवा मृदु वस्तु हिसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥’
× × ×
‘मनसाऽपि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ?
ननु शब्दपतिः चितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥
नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदंगमर्पितम् ,
तदिदं विषद्विष्यते कथं वद वामोरु ! चिताधिरोहणम् ॥’

अर्थात्—‘देह से छू जाने पर यदि फूल भी प्राणघातक हो सकता है, तो इस निष्ठुर संसार-नाशक विधि का, लोगों को मारने के लिए कौन-सी चीज साधन नहीं हो सकती ? अथवा, यह सन्ततिविध्वंसक यमराज भी कोमल को कोमल वस्तु से ही मारना चाहता है ! इसका दृष्टान्त बर्फ के सदृश तरल पदार्थ के स्पर्श से तुरत विनष्ट होती हुई कमलिनी ही है । × × अयि प्रिये ! मैंने तो आज तक तुम्हारे मन के विरुद्ध कोई काम नहीं किया, फिर मुझ निरपराध को क्यों तज रही हो ? मैं तो कहने-सुनने के लिए ही पृथ्वी का भी पति हूँ, पर मेरा एकान्त स्नेह तो तुममें ही रहता था, फिर क्यों रूठ गई हो ? अयि कोमलाङ्गि ! तुम्हारी यह देह नये पल्लवों की सरस शय्या पर भी पीड़ित होने लगती थी, हाय ! अब यह चिता पर कैसे चढ़ेगी ?’ क्या इस करुण क्रन्दन को सुनकर ‘अपि प्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्’ नहीं हाँता ?

शृंगाररस—

इसकी सुन्दर रचना सबसे मुश्किल बतलाई गई है । ध्वन्यालोक में लिखा है—

‘विरोधमविरोधञ्च सर्वत्रेत्यं निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु शृंगारे सुकुमारतरो ह्यसौ ॥
अवधानातिशयवान् भवेत्तत्रैव सत्कविः ।
भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि ऋगित्येवोपलक्ष्यते ॥’

एक सौ तीस

अर्थान्—यों तो रसों के विरोधाविरोध का सर्वत्र निरूपण करना चाहिए, किन्तु शृङ्गार में तो खूब ही सावधानी बरतनी चाहिए; क्योंकि वह सुकुमारतर है। महाकवियों को इसकी रचना में अवश्य सावधान होना चाहिए; क्योंकि इसमें अनवधानता होने से वह तुरन्त ही प्रतीत हो जाती है। इसका कारण मैं पहले ही लिख आया हूँ कि इसका थोड़ा-बहुत अनुभव सबको होता है, जिससे अनुभव-विरुद्ध होने पर तत्काल भूल समझी जा सकती है। मेरे चरितनायक कालिदास तो इसके धुरन्धर आचार्य ही थे, वह इसकी तह तक पैठते थे। पिछले उदाहरणों में शृङ्गार रस आ चुका है, और लेख का कलेवर भी बढ़ गया है, इसलिए पृथक् उदाहरण नहीं दे रहा। इनकी रचनाएँ प्रायः इन्हीं तीन रसों में हुई हैं।

सरस सूक्तियाँ—

इनके ग्रन्थों में एक-से-एक बढ़कर सुन्दर उक्तियाँ हैं। मैं बतौर नमूने के कुछ पेश करता हूँ, विशेष तो ग्रन्थाध्ययन से ही समझा जा सकता है।

१—एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्ववाङ्कः ।

२—छुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैश्शिरसां सतीव ।

३—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

४—कस्यात्यन्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

अंगरेजी में एक कहावत है—‘Empty sack can not stand erect’ निर्वन कभी ईमानदार नहीं होता, यह उक्ति सर्वथा निराधार है। कालिदास ने कहा है—‘रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ।’ बेचारे खूँछे को लांग हीन समझते हैं, किन्तु जो भरापूरा है, उसे गौरव की दृष्टि से देखते हैं।

उपसंहार—

‘Poetry is at bottom the criticism of life.’ कविता जीवन की आलोचना है। मैथ्यू, रस्किन प्रभृति पाश्चात्य समालोचकों ने भी कविता को नैतिक उन्नति का साधन माना है। हमारे ‘कान्ता-

प्राच्यसाहित्य

सम्मिलितयोपदेशयुजे' का भी यही अर्थ है। इसके अनुसार ही कालिदास के काव्यों का आदर्श बड़ा ऊँचा है—पतिव्रतात्व, मित्रता, शरणागत-रक्षा, सच्चा प्रेम, राजा का आदर्श प्रभृति अनेक ऊँचे-ऊँचे विषयों का इनके काव्यों में समावेश है। इसी प्रकार की अनेक सफल विशेषताओं के कारण प्राच्य कवियों में कालिदास का सर्वप्रथम स्थान है।

कालिदास की कविताएँ देखने में सीधी, किन्तु इतनी गम्भीर हैं कि विश्लेषणावसर में बड़े-बड़े विद्वान् भी चकरा जाते हैं। कहा जाता है, और-और कवियों की कविताएँ रेशम में लपेटी कूचे की ठिकरियों की तरह हैं, और कालिदास की कविताएँ गुदड़ी में छिपे लाल की तरह। इनके बाद के तमाम कवियों की कविताएँ अलङ्कार-प्रधान, शब्द-प्रधान ही रही हैं।

एक तो मेरी बुद्धि ही न्यून है, फिर स्थान के सङ्कोच ने तो उसे न्यूनतर बना लिया है।

नवम्बर '३५ ई०]

कुन्दमाला

महाकवि कालिदास के गंगा-गोदावरी और कालिन्दी-नर्मदा के पावन पुलिनों पर प्रकृति-पर्यवेक्षण के प्रथम प्रणयोदयावसर पर समान रूप से गाये जानेवाले असमान रूप 'मेघदूत' में परम प्रतिभोद्भूत कोमल कल्पनाओं और मन्दाक्रान्ता की अमन्दाक्रान्त भौगोलिक जल्पनाओं के साथ ही साथ स्थान-स्थान पर अनेक तात्कालिक ऐतिहासिक इङ्गित भी दीख पड़ते हैं। उनकी पौराणिक सत्यता का दीपक आधुनिकता के राजपथ पर जगमगाती बिजलियों के मुकाबले मन्द पड़ता जा रहा है, यह और बात है। पर, ज्योत्स्नास्नात निशीथ की तरह गम्भीर-शीतल निवात-निष्कम्प प्रदीप की ज्योति आज भी कुछ लोगों को लैम्प-लैण्टर्न से अधिक प्यारी मालूम होती है। प्रकृति-निरीक्षण के समय हमें इस प्रकृति की भी याद होनी चाहिए।

विरह-विधुर यक्ष के मुख से कालिदास ने जहाँ उदयनकथा-कोविद ग्रामवृद्धों की मार्मिक चर्चा की है वहाँ रास्ते में पड़नेवाले आचार्य दिङ्नाग के आवास की बाबत भी एक व्यंग्य-पूर्ण पंक्ति कहलाई है, कम-से-कम मल्लिनाथ ने तो अपनी सज़ीवनी व्याख्या में इसे स्पष्ट ही कर दिया है, जिससे कालनिर्णय के अवसर पर आधुनिक ऐतिहासिकों के सामने एक विवाद खड़ा हो जाता है। कुछ भी हो, आचार्य दिङ्नाग निस्सन्देह अनैतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं, और अण्ण दीक्षित के साथ पण्डित-राज जगन्नाथ की तरह इन्हीं आचार्य दिङ्नाग के साथ कालिदास की प्रतिस्पर्धा रही होगी, इस किंवदन्ती में सन्देह का कोई कारण भी नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि—

‘मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।

प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥’

अथवा—

‘आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।’

जैसी पंक्तियाँ लिखकर विनम्रता के लिए अतिशय प्रसिद्ध कालिदास के मुँह से जिसके प्रति वैसी हास्य-गर्वमयी उक्ति निकल आई है, वह प्रतिस्पर्द्धी पुरुष कैसा रहा होगा ?

यों प्रोफेसर उई (Prof. Ui) ने दिङ्नाग का समय पाँचवीं शताब्दी माना है, पर 'दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूल-हस्तावलेपान्' की की हुई मल्लिनार्थी व्याख्या का भी बहुतो ने अनुमोदन किया है, और दिङ्नाग को कालिदास का समकालीन माना है। यदि भाषाशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक परखेंगे, तो दिङ्नाग की भाषा से भी उनकी कालिदास की समकालीनता प्रायः प्रतीत होगी।^१

आचार्य दिङ्नाग की 'कुन्दमाला' को देखकर मुझे उनके कालिदास के प्रतिस्पर्द्धी अथवा समालोचक होने में कुछ भी संशय न रहा। कुन्दमाला शकुन्तला की तरह विश्वविश्रुत नहीं है, किन्तु कला की दृष्टि से वह नगण्य भी नहीं है।

मैं एक बार फिर कह देना चाहता हूँ कि अगर कुन्दमाला का लेखक कालिदास का समालोचक रहा होगा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कालिदास महाकवि थे और अनुपम महाकवि थे, पर यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि वह कोई बड़े विद्वान्—शास्त्रकार, दार्शनिक आदि न थे।^२ यह आवश्यक नहीं कि कवि वैसा विद्वान् भी जरूर हो या वैसे विद्वान् का कवि होना आवश्यक हो। कवित्व तो ईश्वरीय देन है। अधिकांश विद्वानों की रचना कलामयी, पाण्डित्यमयी भले ही हो जाय, पर कवित्वमयी प्रायः नहीं होती।

१—बौद्धधर्म के महायान-सम्प्रदाय के आचार्यों में दिङ्नाग परिगणित होते हैं। योगाचार-मत के प्रथम प्रतिष्ठापकों—अरुण और वसुबन्धु में से वसुबन्धु के शिष्य-रूप में तिब्बत की परम्परा में वह उल्लिखित हुए हैं। महापरिणत राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार दिङ्नाग का काल वसुबन्धु और कालिदास के बीच में हो सकता है और इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आसपास माना जा सकता है।

२—और दिङ्नाग की ख्याति इसी रूप में है। उनका 'प्रमाण-समुच्चय' नामक ग्रन्थ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अपोह और जाति-परीक्षाओं द्वारा वात्स्यायन के न्याय-भाष्य की ऐसी आलोचना है कि केवल उन (दिङ्नाग) के तर्कों का प्रतिवाद करने के लिए न्यायवार्तिक-जैसा ग्रन्थ लिखा गया। —२०

आचार्य मम्मट ने कवित्व का कारण 'प्रतिभा' (शक्ति), अनेक काव्यशास्त्रादिकों के देखने-सुनने से उत्पन्न होनेवाली 'निपुणता' और काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार 'अभ्यास'—इन तीनों को माना है।

‘शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवशेषात् ।

काव्यज्ञशिष्याभ्यास इति हेतुस्तदुज्ज्वे ॥’

इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन तीनों की कारणता 'तृणारणिमणि-न्याय' से नहीं है, क्योंकि तृण में, अरणि में और मणि (सूर्यकान्त) में अग्नि उत्पन्न करने की शक्ति अलग-अलग है, पर यहाँ काव्योत्पत्ति तो इन तीनों के मिल जाने पर ही हो सकती है, इसलिए इन तीनों की कारणता 'दण्डचक्रचीवर-न्याय' के अनुसार है। अर्थात् डण्डे, चक्के और धागे की सामूहिक सहायता से जैसे घट की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शक्ति, निपुणता और अभ्यास, इन तीनों से काव्योत्पत्ति होती है। अतएव उक्त पद्य में 'हेतुः' में एकवचन रखा गया है। अलग-अलग कारणता होने पर तो 'हेतवः' कहना उचित होता। पर पण्डितराज जगन्नाथ ने (तस्य च कारणं केवला कविगता प्रतिभा) कविता की वजह केवल प्रतिभा मानी है; क्योंकि वैसे लड़के जिन्होंने लोक और शास्त्र में एकबार ही दक्षता नहीं प्राप्त की, या जिन्हें गुरुजनों के समीप अभ्यास करने का कभी मौका नहीं मिला, कैसे सुन्दर कविता बना लेते हैं? केवल प्रतिभा की बदौलत ही न! एकबार निराला जी ने कहा था कि खालिस कविता (Pure poetry) का निमोण २०-२५ साल की उम्र तक किया जा सकता है, फिर तो कलात्मक विदग्धता ही शेष रह जाती है। सचमुच बात कुछ ऐसी ही मालूम पड़ती है, कदाचित् इसीलिए 'पल्लव' से सुन्दर पन्त जी की सरस-रुचिर रचना फिर न हो सकी!

हाँ, तो आचार्य दिङ्नाग अपनी प्रगाढ़ दार्शनिक विद्वत्ता के लिए चिरप्रसिद्ध हैं, फिर भी उनकी वचन-रचना संवेदनात्मक आवेगों से ओतप्रोत करुण-मधुर और कोमल-मसृण है। आश्चर्य नहीं कि वह कालिदास के समय के थे; क्योंकि इतनी सरस और सरल रचना उसी समय हुई है। बाद के कवियों ने अलङ्कारों के बोझ से कविता-कामिनी

प्राच्यसाहित्य

को बहुत दबा दिया है; नागरी बनाने के क्रम में ग्राम्या बना दिया है। स्वाभाविकता (अलौकिक बातों के वर्णनों को छोड़कर) कविता-गत, कालिदास में जिस तरह की है, अश्वघोष, भास, शूद्रक और दिङ्नाग में भी प्रायः वैसी ही है। कैसे कहूँ, यह मेरा दृष्टिदोष है !

कुन्दमाला

यह छह अङ्कों का रूपक है। सीता-वनवास की कथा इसमें बड़े ही द्रावक शब्दों में अङ्कित की गई है। दिङ्नाग की कवित्व-प्रतिभा ऊँचे दर्जे की थी। चरित्र-चित्रण में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है, सीता की उक्तियों में पर्याप्त मनोवैज्ञानिकता झलकती है। यों तो सभी नाटकों में कुछ अलौकिक, अप्रत्याशित घटनाएँ घटित हुआ करती हैं, और कुन्दमाला में भी उनका अभाव नहीं, फिर भी भरसक कहीं स्वाभाविकता नष्ट नहीं हो पाई है। राम स्वयं अलौकिक थे, इसलिए उनका चरित्र अलौकिकता से शून्य नहीं हो सकता।

संस्कृत के नाटक अपनी मुट्ठी के कारण एक रात के सङ्कुचित वातायन से अपना पूर्व रूप प्रायः नहीं दिखा पाते, पर तन्वङ्गी 'कुन्दमाला' में यह दोष भी नहीं है। जैसे यह स्टेज को ही ध्यान में रखकर लिखी गई हो। इसमें शकुन्तला की तरह वासनात्मक (कामुक) चित्रों का कहीं नामोनिशान भी नहीं है; साथ ही उत्तर-रामचरित की तरह कृत्रिम, श्रमसाध्य भाषा का प्रयोग भी नहीं किया गया है। इस दृष्टि से भी इसका महत्त्व बहुत होना चाहिए। इतनी अनुलक्षण—एक ही शैली में ढली रचना उत्तररामचरित की नहीं है। आठवीं शताब्दी के भवभूति ने इससे कुछ कम प्रेरणा भी तो नहीं ली होगी।

वर्णना-विच्छिन्न

कठोरगर्भा जानकी को महाराज राम की आज्ञा के अनुसार लक्ष्मण रथ पर बिठाये लिये जा रहे हैं जङ्गल में छोड़ आने के लिए। वह बेचारी जङ्गल देखने की इच्छा से हँसती-किलकती जा रही है। उसे नहीं मालूम, क्षण भर बाद लक्ष्मण का रुख बदल जायगा या वह अपनी आँखों में आँसू भर लेंगे और उसकी करुण अवस्था न देखेंगे ! सूत्रधार अभी

एक सौ छत्तीस

अपनी प्रिया को बुला ही पाया था कि यह दुस्संवाद उसके कानों में पहुँच गया। वह अतिशय दुःखी होकर कहने लगा—

‘लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।

निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वी

सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥’

अर्थात्—‘यह बहुत दिना तक रावण के घर में रह चुकी हैं’, इसी लोकनिन्दा से डरकर राज्य भर से निकाली हुई गर्भवती सीता को लक्ष्मण जङ्गल लिये जा रहा है।

इसके व्यंग्यार्थ मेरी समझ से शब्दतः ये होंगे—‘रावण’ के यहाँ रहने से सीता का रोते रहना ही समझा जा सकता था, कलङ्क का अवसर क्यों आता? पर वह तो ‘लङ्केश्वर’ के यहाँ रह चुकी हैं! कैसे कहा जाय उसके अखण्ड वैभव पर दृष्टिन्नेप करते ही उनका मन न डग गया होगा! ‘लङ्केश्वर’ की वाटिका (अशोक) में पड़ी होतीं, तो भी ‘परिवाद’ का मौका न आता, पर वह तो ‘भवन’ में—हाँ, राजमहल में रहती थीं। वह भी क्षण भर नहीं, ‘सुचिर’ काल तक। अगर ‘लङ्केश्वर के महल में बहुत दिन बिताये’ इतनी ही बात होती, तो भी गनीमत थी। पर, वह तो वहाँ ‘स्थित’ रही हैं! इसी निन्दा से डरकर, डरकर ही क्यों घबराकर (यद्यपि वह अपनी गम्भीरता के लिए लोकविख्यात हैं), राम ने सीता को निकाल दिया। कितनी बड़ी अक्लमन्दी है यह! लोक के कहने भर से निकाल देना उचित समझा, पर सीता का अपराध कुछ न था, इसकी ओर जरा भी गौर न किया! अथवा इन्होंने जो पहले नृशंस अग्निपरीक्षा ली थी, वह जैसे मजाक की बात थी! हाँ, तो सीता को निकाल दिया। यह सुलभ भी था। पर ‘जानकी’ होती तो? महाराज जनक की इकलौती लाडली को निकाल देना जरा टेढ़ी खीर था। सीता तो जनपद मात्र से निकाल दी गई हैं, फिर दूसरे भवन में उनके निवास इत्यादि का तर्क ही निर्मूल है। इस बेचारी ‘गर्भगुर्वी’ (कितनी निर्दयता है यह) को लक्ष्मण जङ्गल की ओर ले जाने के लिए ‘परिकर्षति’ जल्दी कर रहा है, समग्र मानवीय भावनाओं को तिलाञ्जलि दे चुका है।

प्राच्यसाहित्य

इसी सुन्दर कविता से नाटक की स्थापना की गई है। दिङ्नाग का कवित्व इसी से अनुमित हो सकता है। इसका पहला अङ्क तो इतना द्रावक है कि मैं रोते-राते किसी प्रकार पढ़ पाया था। दो-एक उसके स्थानों का और भी निरीक्षण करें—जब लक्ष्मण ने, जङ्गल में पहुँचने पर यह कह दिया कि—

‘त्यक्ता किञ्च त्वमार्येण चरित्रगुणशालिना ।

मयाऽपि किञ्च गन्तव्यं त्यक्त्वा त्वामिह कानने ॥’

तब सीता यह कहते-कहते बेहोश हो गई कि ‘हा नाथ, आर्य कोसलाधिप अद्योपरतोऽसि ।’ अर्थात् हे पिताजी, पूज्य कोसल के महाराज ! तुम्हारी मृत्यु तो आज हुई है ! उनके कहने का आशय स्पष्ट प्रतीत होता है कि अगर महाराज दशरथ आज जीवित होते, तो राम की क्या हिम्मत थी कि उस निरपराधा को यों ही जङ्गल में छोड़ आने के लिए लक्ष्मण को कह सकते !

लक्ष्मण ने लौटते समय पूछा, कुछ आप भी कहें, जो मैं लौटकर महाराज राम को कहूँगा, तो सीता ने कहा, ‘उफ ! इस हालत में पहुँचकर मैं क्या कह सकती हूँ ? हाँ, मेरी सासों को मेरा साष्टाङ्ग प्रणाम कहकर कहना कि निस्सहाय, भयानक जन्तुओंवाले जङ्गल में रहनेवाली मुझ अभागिनी पर वह कृपा रक्खेंगी ।’

दिङ्नाग ने यहाँ पर अपने स्त्रीस्वभाव-निरीक्षण की हद कर दी है। लक्ष्मण ने फिर कहा, ‘तो आप राम के लिए कुछ नहीं कहती ?’ सीता ने कहा, ‘अच्छा लक्ष्मण, अब उस निटुर को भी कुछ कहे देती हूँ, पर यह सिर्फ तुम्हारी बात मानने के लिए, अपनी ममता से नहीं। हाँ, तो उनसे यह कहना कि मुझ अभागिनी की कभी-कभी याद करते हुए आप ‘वर्णाश्रमधर्म’ के पालन में खूब सावधान रहेंगे। साथ ही, अपनी देह (मेरी तो जो हालत हुई, वह हुई ही) पर भी ध्यान रक्खेंगे। अच्छा, अब जाने दो, मैं क्या ‘महाराज’ को उपालम्भ दूँ ? इतना ही कहकर वह चुप हो गई। यह दुःखोद्रेक का लक्षणमात्र है, विशेषकर स्त्री जाति के। पर ज्यों ही फिर लक्ष्मण ने कुछ कहा, त्यों ही वह बोलने लगी—‘हाँ, मेरी तरफ से उन्हें यह भी कह देना कि वह

एक सौ अड़तीस

मुझे मूर्ख, चिरपरिचित, अनाथा या 'सीता' समझकर भी कभी-कभी याद करने की कृपा करेंगे। बेटा लक्ष्मण, अयोध्या को मेरा प्रणाम कह देना, महाराज राम की सेवा करना, माताओं का कहा करना, मेरी सखियों को आश्रासन देना, और मुझ अभागिनी की भी याद किया करना।' यह कहकर राने लगीं। सचमुच यह स्थल इतना करुणापूर्ण है कि कोई भी सहृदय बिना रोये रह नहीं सकता।

लक्ष्मण भी घबरा गये, वह कहने लगे—

‘आर्या स्वहस्तेन वने विमोक्तुं

श्रोतुञ्च तस्याः परिदेवितानि ।

सुखेन लङ्कासमरे हतं मा—

मजीवयन्मारुतिरात्तर्वरः ॥’

अर्थात्—दुष्ट हनूमान् ने लङ्का की लड़ाई में सुख से मरे हुए मुझको कदाचिन् इसीलिए जिला लिया था कि आज मैं अपने ही हाथों से आर्या सीता को जङ्गल में छोड़ जाऊँ और उनका यह मर्म-विदारक करुण-क्रन्दन सुनूँ !

यह भाव इतना सुन्दर हुआ है कि ऐसी कविता मुश्किल से बन पड़ती है। इन्हीं कविताओं की बदौलत दिङ्नाग में कालिदास के समालोचक होने की हैसियत पाई जाती है।

‘एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य

हंसश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति ।

नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं

तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः ॥’

अर्थात्—‘देवा सीता का इस करुणावस्था का दखत ही हिरनों ने घास खाना छोड़ दिया, और वह रो रहे हैं। अतिशय खिन्नचित्त होकर हंस करुण रुदन कर रहे हैं, ये गयूर भी अपना नाचना छोड़ रहे हैं। उफ ! ये तिर्यक् योनिवाले अधिक अच्छे हैं वनिस्वत मनुष्य के; क्योंकि मनुष्य की कृपा से ही तो एक देवी को ऐसी अवस्था का सामना करना पड़ा है। नहीं तो, कहाँ प्रातःस्मरणीया देवी, और कहाँ उसका निर्वासन, यह ऐसा अमानुषिक अत्याचार !

प्राच्यसाहित्य

सीता ने कहा, 'जाओ लक्ष्मण ! सूरज डूब गया, इधर आदमियों का आना-जाना भी नहीं होता, पक्षी उड़कर घोंसलों में चले गये, जङ्गली जानवर घूमने-फिरने लगे, जाओ अब और ठहरना ठीक नहीं ।'

पाटक देखें, जिन-जिन बातों की वजह से लक्ष्मण के लिए एकाकिनी सीता को छोड़कर जाना उचित नहीं, उन्हीं-उन्हीं बातों से ढाढ़स बँधा कर सीता उन्हें जाने के लिए जोर दे रही हैं ! जब सचमुच लक्ष्मण चले गये, तो सीता रोने, और कहने लगी—'क्या लक्ष्मण मुझे अकेली छोड़कर चला गया ? हाय ! सूरज डूब गया, लक्ष्मण की तो कहीं से अब आवाज भी नहीं सुनाई पड़ती, जङ्गली जानवर घूमने लगे, अब मैं मन्दभागिनी अकेली यहाँ क्या करूँ ? हे ईश्वर, अब मैं कहाँ जाऊँ ?'

कवि ने इस स्वभाव-चित्रण तथा करुण-क्रन्दन में क्या कमाल नहीं कर दिखाया है ? कोई भी आस्तिक-हृदय इस दृश्य को देखकर विना अश्रु-वर्षा किये रह सकता है ?

कई अङ्कों में राम की उक्तियाँ अत्यद्भुत हैं, उनमें कवित्व-प्रवाह देखते ही बनता है—

‘नीतस्तावत् मकरवसतौ बन्ध्यतां शैलसेतुः
देवो वह्निर्न च विगणितः शुद्धिसाक्ष्ये नियुक्तः ।
इक्ष्वाकूणां भुवनमहिता सन्ततिर्नेक्षिता ये
किं किं मोहादहमकरवं मैथिलीं तां निरस्य ॥’

× × ×

‘पूर्वं वनप्रवासः पश्चाल्लङ्का ततः प्रवासोऽयम् ।

आसाद्य मामधन्यं दुःखाद्दुःखं गता सीता ॥’

अर्थात्—समुद्र में बँधा हुआ पुल व्यर्थ हो गया, शुद्धि के साक्ष्य में नियुक्त अग्निदेव का भी मैंने अनादर किया, (किसी को साक्षी बनाकर फिर उसका कहा न मानना परले सिरे का अनादर है) इक्ष्वाकु-कुल की संसार-विख्यात सन्तति की (सीता से उत्पन्न होनेवाली) तरफ मैंने जरा ध्यान नहीं दिया, उफ ! मूर्खतावश मैथिली को निर्वासित कर मैंने कितने अनर्थ न किये ? पहले-पहल वनवास, तब लङ्का में राक्षसों के बीच निवास, फिर यह चिरप्रवास, आह ! मुझ नीच के पाम आकर सीता ने नित नये दुःख भेजे ।

एक सौ चालीस

करुणरस के निर्माण तथा निर्वाह में तो दिङ्नाग अतीव विद्वहस्त हैं। तमाम कुन्दमाला में करुणरस की धारा बहा दी है। सीधे-सादे शब्दों में भावों का गम्भीर गुम्फन सोने में सुहावे का काम कर रहा है। कविताएँ इतनी सरल हैं, जैसे आप बन गई हों। ऊपर के उदाहरण परीक्षा के लिए पर्याप्त होंगे। उक्त सारी की सारी कविताएँ व्यंग्य-परम्पराओं से अश्रित हैं, पर स्थान-संकोच के कारण उन्हें विशकलित करने से मैं ही वञ्चित हो रहा हूँ।

सचमुच एक नन्हीं-सी 'कुन्दमाला' पहनकर ही आचार्य दिङ्नाग महाकवियों की सभा के सभापति हो सकते हैं। 'कुन्दमाला' की मुगन्धि शीघ्र ही पाठ्य-पुस्तकों के सम्पादकों की ऊँची नाक में पड़े, प्रस्तुत निबन्ध का एक उद्देश्य यह भी है।

तुलनात्मक आलोचना

'कुन्दमाला' की कमनीय कविताओं को देखते ही मुझे जिन-जिन कविताओं की याद आई है, तथा इसकी अनेक घटनाओं के सदृश कुछ अन्य नाटकों की घटनाओं का भी संक्षेपतः निर्देश करने की कोशिश यहाँ करूँगा। स्वाध्याय के अवसर पर इन भाव-विनिमयों से सहृदय पाठकों को परम प्रमत्तता प्राप्त होती है।

‘मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकायाः
स्वेषामपि प्रसरतां रजसामलंध्याः ।
निष्कम्पचामरशिखाश्च्युतकर्णभङ्गा
धावन्ति वर्त्मनि तरन्ति नु वाजिनस्ते ॥’

— शकुन्तला, प्र० अङ्क

‘अमी पतन्नि श्रवणे स्वमन्द्रं
विक्रम्यमाणा; कलहंसनादैः ।
अनाश्रवाः प्रग्रहसंयमस्य
तुरंगमास्तूर्णतरं प्रयान्ति ॥’

— कुन्दमाला, प्र० अङ्क

‘विलासवापीतटवीचिवादनात्
पिकालिगीतैः शिखिलास्यलाघवात् ।

प्राच्यसाहित्य

वनेऽपि तौख्यत्रिकमारराध तं
क्व भोगमामोति न भाग्यभाग् जनः ॥'

—नैषध, प्र० सरां

'तरंगा वीजन्ते सजलकर्णिकान् शीतमरुतम्
तथैते संगीतं दधति कलहंसाः कलागरः ।
सखीवच्छायेयं रमयति परिष्वज्य हृदयं
वने शून्येऽप्यस्मिन् परिजनवतीवात्र भवती ॥'

—कुन्दमाला, प्र० अङ्क

'सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥
देव्यामपि हि वैदेह्यां सापराधो यतो जनः ।
रक्षो गृहस्थितिर्मूलमग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः ॥'

—उत्तर०, प्र० अङ्क

'अग्नीणां लोकपालानामार्यस्य मम चाग्रतः ।
अग्नौ शुद्धिं गता देवी किन्तु लोको निरङ्कशः ॥'

—कुन्दमाला, प्र० अङ्क

'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं ।
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे ॥'

—उत्तर०, तृ० अङ्क

'त्वं देवि ! चित्तनिहिता गृहदेवता मे
स्वप्नागता शयनमध्यगता सखीव ।'

—कुन्दमाला, प्र० अङ्क

उज्जिन्नदर्भकवला मृगी, परित्यक्तनर्तना मयूरी ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चत्यश्रूणीव लता ॥'

—शकुन्तला, च० अङ्क

'एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य,
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति ।
नृपं त्यजन्ति शिखिनोऽपि वल्लोक्य देवी ॥'

—कुन्दमाला, प्र० अङ्क । इत्यादि ।

कुछ घटनाओं के साम्य भी परीक्षणीय हैं। उत्तर-रामचरित में कंचुकी ने आकर कहा, 'रामभद्र' (वचपन में राम को लोग रामभद्र ही कहकर पुकारते थे), पर वह इतना कहते सद्म गया, और फिर सँभलकर कहा—'महाराज'। यह देख-सुनकर राम मुस्बुराकर कहने लगे—'आर्य ! मेरे पिताजी के परिजनो को मुक्त रामभद्र कहकर पुकारना ही अधिक प्यारभरा जँचता है, सो आप अपनी आदत के मुताबिक रामभद्र ही कहिए।'।

कुन्दमाला में भी राम को कण्व आकर 'राजन' कहता है, तो वह कहते हैं—'मित्र ! यह तपस्वियों के विरुद्ध असन्त्रण है। अथवा तुम्हारी उम्र ने ही ऐसा करने के लिए तुम्हें बाध्य किया है, तो कहो; क्योंकि वचपन में हम दोनों राम और कण्व मात्र थे, पर उम्र ने अब पहले को 'राजा' और दूसरे को 'आर्य' बना दिया।'।

मानव-स्वभाव के सूक्ष्म पारखियों को दोनों राम की उक्ति में कुछ भेद जँचेगा, पर वह तो हाना ही उचित है। उत्तर-रामचरित की सीता और कुन्दमाला की सीता में भी बहुत भेद है। दोनों कवियों ने चरित्र-चित्रण में कमाल किया है, रुचि-वैचित्र्य से दोनों ही अच्छे हैं।

‘शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्नि —

रासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धि ।

ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे

तस्मिन् वनं गोसरि गाहमाने ॥’

रघुवंश में कालिदास ने कहा है कि राजा दिलीप के जङ्गल में प्रवेश करते ही दवाग्नि आप ही आप बुझ गई, फल-फूलों की खूब वृद्धि होने लगी, साथ ही बड़े-बड़े खूनी जानवरों ने भी छोटों पर हमला करना छोड़ दिया।

कुन्दमाला में भी—

‘मन्दं वाति समीरणेन परुषा भासो निदाघाचिषो

न त्रस्यन्ति चरन्त्यशङ्कमधुना मृग्योऽपि सिंहैस्सह ।

मध्याह्नेऽपि न याति गुल्मनिकटं छाया तदध्यासिता,

व्यक्तं सोऽयमुपगतो वनमिदं रामाभिधानो हरिः ॥’

प्राच्यसाहित्य

रामचन्द्रजी के वन में आने पर उन्हीं बातों का वर्णन किया गया है। उत्तर-रामचरित में भी ठीक इसी प्रकार से कहा है—

ददतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्च्युतः
स्फुटितकमलामोदप्रायः प्रवान्तु वनानिजाः ।
कलमधिरलं रत्युत्कण्ठाः क्णान्तु शकुन्तयः
पुनरिदमयं देवो रामस्स्वयं वनमागतः ॥'

भवभूति ने द्वितीय अङ्क में मध्याह्न का जैसा वर्णन किया है, तृतीय अङ्क में कुन्दमाला में वैसा ही किया गया है। शब्द-गुम्फन में भी पर्याप्त साम्य है—

‘कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणाकम्पेन सम्पातिभि—
र्धर्मस्त्रैसितबन्धनैश्च कुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम् ।
छायापस्किरमाणविरिकरमुखव्याकृष्टकीटस्वचः
कृजङ्गान्तकपोतकुवकुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ।’

—उत्तररामचरित

‘मध्याह्नाकर्मयूखतापमधि तोयावगाहादयं
नीत्वा वारिकणाद्र्कणपवनैराह्लाद्यमानाननः ।
मन्दं मन्दमुपैति कूलमधुना वक्षः प्रणुन्नैर्जलै-
राक्रान्तं करघातभङ्गकृतिसरिक्कलोलचक्रः करी ॥’

—कुन्दमाला

दुष्यन्त ने शकुन्तला को स्वर्गलोक में धूमिलमुख देखकर कहा था—

‘वसने परिधूसरे वसाना
नियमलाममुखी धृतैकवेणी ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्त्ति ॥’

—सप्तम अङ्क

राम ने भी कुन्दमाला में कहा है—

आपाण्डुरेण मयि दीर्घवियोगखेदं
लम्बालकेन वदनेन निवेदयन्ती ।

एक सौ चौवालीस

एषा मनोरथशतैः सुचिरेण दृष्टा—
कापि प्रयाति पुनरेव विहाय सीता ॥'

—चतुर्थ अङ्क

और उत्तररामचरित में भी यह भाव आया है—

'परिपाण्डुदुर्बल-कपोल-सुन्दरं
दधती विलोलकबरीकमाननम् ।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥'

—तृतीय अङ्क

उत्तररामचरित के पहले अङ्क में लक्ष्मण जब चित्र दिखला रहे थे तो 'मन्थरा' का प्रसङ्ग आते ही राम ने आगे के पेज उलट दिये, और शृङ्गवेरपुर की तस्वीर दिखाने लगे। लक्ष्मण ने मन ही मन हँसकर कहा था—'माँ कैकेयी का वृत्तान्त आर्य ने छिपा लिया।' ठीक उसी प्रकार कुन्दमाला के पष्ठ अङ्क में जब लव-कुश रामचरित का बखान कर रहे थे, अभिषेक-वृत्तान्त आते ही राम ने (कैकेयी की निन्दा का प्रसङ्ग छोड़कर) सीताहरण के बाद की कथा कहने के लिए उनसे कहा है।

पष्ठ अङ्क शकुन्तला के दुष्यन्त की तरह चतुर्थ अङ्क कुन्दमाला के राम प्रायशः चित्रित हुए हैं।

शकुन्तला के सप्तम अङ्क में, स्वर्गलोक में सर्वदमन (भावी भरत) को देखकर दुष्यन्त की जो हालत हुई थी, कुन्दमाला के पञ्चम अङ्क में लव-कुश को देखकर राम की भी वही हुई है। वहाँ पर जिस प्रकार 'रक्षाबन्धन' उठा लेने पर, और साँप बनकर उसे दुष्यन्त को न काट खाने पर आश्चर्य हुआ था, राम के सिंहासन पर लव-कुश के बैठने और उनके मस्तक को शतशः खण्डित न होनेवाली यहाँ की घटना भी उससे अतिशय साम्य रखती है।

जैसे 'पश्य शकुन्त-लावण्यम्' कहने पर बालक सर्वदमन ने शकुन्तला को आई हुई समझकर कहा था—'कुत्र-कुत्र मे अम्बा शकुन्तला?' अर्थात् मेरी माँ शकुन्तला किधर है? और यह सुनकर दुष्यन्त को जितना आह्लाद तथा आश्चर्य हुआ था, उसी प्रकार नेपथ्य से 'इक्ष्वाकुकुल-

प्राच्यसाहित्य

कुमार लव और कुश में से यहाँ हैं कोई ?' यह आवाज आने पर बहुत देर से इसी उधेड़-बुन में पड़े राम को भी यहाँ उतना ही आह्लाद और उससे बढ़कर आश्चर्य हुआ है ।

पाठकों को इन घटनाओं में साम्य-प्रतीति के साथ-साथ इस नाटक की सुन्दरता का भी काफी पता लग गया होगा । आचार्य दिङ्नाग ने इसे सर्वतः सुन्दर बनाने की चेष्टा की है और इसमें उन्हें काफी सफलता भी मिली है । जिस प्रकार गायत्री मंत्र के अक्षरों के अर्थवाले किसी दूसरे वाक्य में गायत्रीत्व नहीं रहता; और जिस प्रकार शारद ज्योत्स्ना की परम रमणीयता किसी भी अन्य धवलता में नहीं रहती, उसी प्रकार कवि के भाव उसके निजी शब्दों में ही सुन्दर प्रतीत होते हैं । अधिक स्पष्टता लाने पर भी उन शब्दों की शक्ति अन्य वाक्यों में नहीं आती, इसीलिए इच्छा का संवरण कर मैं उनकी खूबसूरती का वयान अब यहाँ नहीं कर रहा हूँ ।

सरस सूक्तियाँ

इस नन्हीं-सी रचना के अन्दर कालिदास की तरह अनेक सुन्दर उक्तियाँ आई हैं, जैसे दुष्यन्त ने कहा है—

‘साक्षात् प्रियासुपगतामपहाय पूर्व्वं

चित्रार्पितामहमिमां बहु मन्यमानः ।

ज्योतोवह्नां पथि निकामजलामतीत्य

जातः सखे ! प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम् ॥’

राम ने भी कहा है—

‘तृषितेन मया मोहात् प्रसन्नसलिलाशयात् ।

अञ्जलिर्विहितः पातु कान्तारमृगतृष्णिकाम् ॥’

जिस प्रकार शकुन्तला में—

‘यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—

माविष्कृतारुणपुरस्सर एकतोऽर्कः ।

तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां

लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ॥’

एक सौ छियालीस

कुन्दमाला में भी—

‘सन्ताप्य लोकमखिलं निरवग्रहेण
तीव्रो नरेश्वर इव प्रथमं स्वधाम्ना ।
सोऽयं वयःपरिणतेरिव शान्ततेजाः
सायं मृदुर्भवति तिग्मरुचिः क्रमेण ॥’

और जिस प्रकार शकुन्तला में—

‘स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तथा
यातं यच्च नितम्बयोगुरुतया मन्दं विलासादिव ।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि तत् सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो ! कामः स्वतां पश्यति ॥’

उसी प्रकार कुन्दमाला में भी है—

‘यां यामवस्थामवगाहमान—
मुत्प्रेक्षते स्वं तनयं प्रवासी ।
विलोक्य तां तां च गतं कुमारं
जातानुकम्पो द्रवतामुपैति ॥’

काव्य में प्रसाद गुण

महाकवि भारवि ने लिखा है—

‘विविक्तवर्णाभरणा सरस्वती
प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां
प्रसन्नगंभीरपदा सरस्वती ॥’

अर्थात्—स्पष्ट वर्णों से अलङ्कृत, शत्रुओं के हृदय को भी खुश कर देनेवाली, स्वच्छ किन्तु गम्भीर पदोवाली वाणी बड़े ही पुण्यात्मा की हो सकती है। बात यह है कि कविता में जब तक दार्शनिक भावों का समावेश नहीं होता अथवा अपूर्व-अद्भुत कल्पनाएँ नहीं आती, तब तक वह कुछ छिछली मालूम पड़ती है, और ‘रिक्तः सर्वो भवति हिलघुः पूर्णता गौरवाय।’ साथ ही सब तरह के भावों और कल्पनाओं का सन्निवेश होने पर सीधे-सादे शब्दों का आना मुश्किल हो जाता है।

एक सौ सैंतालीस

प्राच्यसाहित्य

आजकल की कविताओं में यही दोष लगाया जाता है, जो सरासर अन्याय है। अन्याय इसलिए कि उन-उन भावों का 'चौपदे' की भाषा में, सुन्दर गेय छन्दों में निर्वाह होना कठिन हो जाता है, अगर 'चौपदे' के निर्माता हिन्दी कवियों के सम्राट् कहलाते हैं, तो वह 'प्रिय-प्रवास' की बदौलत। और, उसकी भाषा कितनी सरल है, यह 'भारत-भारती' पढ़नेवालों को अच्छी तरह ज्ञात होगा। वैसी भाषा का होना दोष है, ऐसा कहनेवाला व्यक्ति साहित्य के देश में विदेशी के समान है।

‘मूक-आह्वान-भरे लाजसी कपोलों के

व्याकुल विकास पर

झरते हैं शिशिर से चुरन्त गगन के।’

— परिमल (तृतीय खण्ड)

इस सुन्दर भाव का इतना ही मधुर निर्वाह ठैठ हिन्दी में कदापि सम्भव नहीं।

यह बात और है कि अगर सुन्दर सुबोध भाषा में उसकी रचना हो सके तो अधिक अच्छा हो। संस्कृत के कवियों में कालिदास में इस गुण ने चरम विकास को प्राप्त किया है, फिर भी मुझे यह कहने में तनिक भी सङ्कोच नहीं कि उनकी कविताओं में जटिल, ग्रन्थिल कल्पनाएँ अधिक नहीं हैं।

यह प्रश्न बहुत जटिल नहीं कि अधिक कल्पनामयी कविता कविता कहला सकती है, या सीधी बातों का एकदम सीधा वर्णन करनेवाली? क्योंकि, मेरे विचार से वे दोनों ही कविता नहीं हैं। जिन लोगों का मत है कि कविता केवल हृदय की चीज है, मस्तिष्क की नहीं, उन्हें तीव्र मस्तिष्क का समझना प्रायः भूल है; क्योंकि इस प्रकार गीतिकाव्यों (Lyrics) का निर्माण जितना सुलभ है, महाकाव्यों का उतना नहीं। ‘मेघनादवध’ में हृदय से अधिक कल्पनाएँ हैं, और उसकी महाकाव्यता महाकवियों ने भी एक स्वर से स्वीकृत की है। मैं इसका सूक्ष्म विवेचन किसी स्वतन्त्र निबन्ध में करूँगा।

हाँ, तो कुन्दाता के रचयिता में भी सरल से सरलतर पदों में कविता करने की अनुपम प्रौढ़ि है। इस प्रकार की कविता को प्रसाद-

एक सौ अड़तालीस

गुण की कविता कहते हैं। प्रसाद गुण का लक्षण काव्यप्रकाशकार ने यों किया है—

‘शुष्केन्धनादिवत्, स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्तोऽन्यत् ‘प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥’

इसी की और स्पष्टता कविराज विश्वनाथ ने की है—

‘चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ।’

अर्थात्—सूखी लकड़ी में आग की तरह जो भटपट चित्त में व्याप्त हो जाय, उसे प्रसाद गुण कहते हैं, और वह सभी रसों में, सभी रचनाओं में रह सकता है। उसके शब्द कान में पड़ते ही अर्थ के बोधक हो जाते हैं, जैसे—

‘दोनों ओर प्रेम पलता है !

सखि ! पतंग भी जलता है, औ’—

दीपक भी जलना है ।’

—साकेत, नवम सर्ग

पर, इन दोनों लक्षणों में जिस प्रकार का ‘प्रसाद-गुण’ बतलाया गया है, उसका आना कविताओं में बड़ी मुश्किल से हो सकता है, इसलिए मुझे तो श्री ‘रसगङ्गाधर’ का लक्षण ही सूपयुक्त मालूम पड़ता है— वह लक्षण है—

‘गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः ।’

अर्थात्—कविता में समस्त और व्यस्त दोनों प्रकार के पदों का किसी नियम से सङ्कलन न करना ही प्रसाद है। यह प्रसाद-गुण ‘प्रसाद’ जी, पन्त जी और निराला जी—सबमें मिलेगा। प्रसाद-गुण का निर्दोष लक्षण यही हो सकता है।

कुन्दमाला के पिछले उदाहरणों में प्रसाद-गुण-वाली कविताएँ लिखी जा चुकी हैं, मैं एक उदाहरण और लिखता हूँ—

* प्राचीनमतानुसार शब्दगत प्रसाद-गुण

एक सौ उनचास

‘प्राच्यसाहित्य

‘वामेन नीवारलतां करेण

जानुं समालम्ब्य च दक्षिणेन ।

पदे पदे मे पदमादधाना

शनैश्शनैरेतु मुहूर्त्तमार्या ।’

लक्ष्मण सीता को रथ से उतरने और क्षण भर पैदल चलने के लिए कह रहे हैं कि ‘बाँयें हाथ से नीवार की लता और दाहिने से घुटना पकड़कर, मेरे एक-एक कदम पर पैर रखती आप क्षण भर धीरे-धीरे मेरे पीछे चली आवें।’ सभी शब्द अलग-अलग, साफ-साफ हैं। सच तो यह है कि कुन्दमाला की सारी कविताएँ प्रसाद-गुण की हैं। इसलिए भारवि के कथनानुसार निस्सन्देह आचार्य दिङ्नाग ‘कृत-पुण्यकर्मा’ महाकवि हैं।

ऐतिहासिक ज्ञान

कहते हैं—

‘न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।

जायते यन्न काव्यांगमहो ! भारो महान् कवेः ।’

अर्थात्—संसार में वह न शब्द है और न अर्थ, न कोई वह न्याय है और न कला, जो कविता के अन्दर न आ जाय, आह ! कवि के सर पर कितना बड़ा भार है। सचमुच कवियों के लिए सभी विद्याओं और कलाओं का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। संस्कृत के कालिदासादि कवियों ने अपनी कविताओं में ‘बहुज्ञता’ व्यक्त की है, और सुन्दर निर्वाहपूर्वक। कालिदास का ऐतिहासिक भौगोलिक ज्ञान इतना प्रबल है कि देखते ही बनता है। पर, श्रीहर्ष ने सुप्रसिद्ध नैषध में भयङ्कर ऐतिहासिक भूल की है। दमयन्ती के चन्द्रोपालम्भ में कहलाया है—

‘सखि ! जरां परिपृच्छ तमश्शिर-

स्सममसौ दधतापि कबन्धताम् ।

मगधराजवपुर्दल्युग्मवत्

किमिति न व्यतिसीव्यति केतुना ?’

कवि कल्पना में इतना तन्मय हो गया है कि उसे इसकी सुध ही नहीं रही कि दमयन्ती के समय में जरासन्ध हुआ था या नहीं ? इन

एक सौ पचास

रचनाओं से कवित्व को धक्का नहीं पहुँचता, पर जरा यह निर्दोष की अपेक्षा हीन अवश्य मालूम पड़ती हैं। कुन्दमाला के रचयिता भी इस दोष से मुक्त न हो सके। कुन्दमाला के तृतीय अङ्क में, जब कि नैमिषारण्य में होनेवाले यज्ञ को लक्ष्यकर सीता वाल्मीकि के साथ 'गोमती' के किनारे रहती थीं, कवि ने उनसे 'गङ्गा' का अवगाहन करवाया है और कुन्दमाला विसर्जित करवाई है। ऐसी प्रतिज्ञा खुद सीता ने की थी। यद्यपि यह एक भूल—'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' क्षम्य है, फिर भी यह भूल है, इसमें सन्देह नहीं।

उपसंहार

कुन्दमाला में भास और कालिदास की भलक होने से कवि की तत्कालीनता प्रतीत होती है। साथ ही घटनाओं के साम्य से तत्समकक्षता भी। यद्यपि उत्तररामचरित और कुन्दमाला की कथा एक ही है, पर दोनों रचनाओं में सौन्दर्य दो प्रकार की घटनाओं से हुआ है। अगर उत्तररामचरित का पहला अङ्क राम की उक्ति से करुणापूर्ण तथा मार्मिक हुआ है, तो कुन्दमाला का सीता की चुभती उक्तियों से। उत्तररामचरित और कुन्दमाला दो हाँकर भी एक हैं, और एक होने पर भी दो। कारण, भवभूति की कवित्व-प्रतिभा और नाट्य-प्रतिभा किसी (दिङ्नाग-ऐसे) से कम ऊँची नहीं है। और कालिदास? वह तो वहाँ पहुँच चुके हैं, जहाँ एक 'कालिदास' ही पहुँच सकता है, 'भवभूति' अथवा 'दिङ्नाग' नहीं। भवभूति की भाषा नाटकोपयुक्त नहीं, और कुन्दमाला में भवभूति की बारीकी नहीं है। 'कुन्दमाला' का कथानक 'कुन्दमाला' से अधिक सम्बन्ध रखता है, और वहीं पर कवि ने भूल की है, इसीलिए वह 'शकुन्तला'वाले कालिदास नहीं हो सकते। उसे मैं यों भी कह सकता हूँ कि दिङ्नाग निस्सन्देह दिङ्नाग (दिग्गज) हैं, बौद्ध नैयायिक ही नहीं, उद्बुद्ध महाकवि और नाटककार भी; उनकी रचना में दिङ्नागता (दिग्गजता) सर्वत्र है, पर खेद की बात है कि कालिदासता कहीं भी नहीं।

अप्रैल '३७ ई०]

आचार्य दिङ्नाग और कवि कालिदास

(प्रतिवाद)

जुलाई की 'माधुरी' में विद्या-वयोवृद्ध सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार ने मेरे एक क्षुद्र लेख को समृद्ध बनाने की अपार कृपा दर्साई है, उसके अन्तराल में दबे हुए मेरे अबन्ध अन्धकार को परम प्रकाश में लाकर। पर, जो प्रकाश के पास कभी नहीं फटका, उसकी आँखों का अचानक विजली से मुकाबला होने पर चकाचौंध में आ जाना महज मामूली बात है। आज इसीलिए मेरा अन्धकार घनतर हो गया है।

सर्वप्रथम पोद्दारजी को मेरे लेख का उद्देश्य समझने में भ्रम होने के कारण अकारण ही अधिक श्रम करना पड़ा है। मैंने वहाँ ऐतिहासिक विषय की चर्चा अवश्य चलाई है, पर मेरा अभीष्ट अपने ऐतिहासिक ज्ञान के अधूरेपन का परिचय देना कदापि नहीं है। इसीलिए मैंने उसे उभारकर भी एक तरह से तरह दे दिया है। मेरे विचार से कविता की मर्मज्ञता में उसकी रचना-तिथि अधिक सहायक नहीं होती। बीसवीं सदी में भी मार्मिक कविताएँ लिखी जा सकती हैं—इसलिए, किसी मार्मिक कविता को कालिदासकालिक सिद्ध करने की समग्र सामग्री हास्यास्पद ही होगी। मैंने ऐसा किया भी नहीं है। जहाँ मेरे तुलनात्मक पद्य उद्धृत हुए हैं, वहाँ उस उद्धरण-प्रसङ्ग का आशय भी मैंने संक्षेपतः प्रथम ही निवेदित कर दिया है, यदि पोद्दारजी भ्रम या सम्भ्रम में न होते, तो उन्हें कालिदास के अतिरिक्त और भी श्रीहर्ष, भवभूति आदि वहाँ दीख पड़ते, जिन सबको 'भोज-प्रबन्ध' के रचयिता की तरह मैं एककालिक सिद्ध करने का कभी दुस्साहस नहीं कर सकता। दूसरे जहाँ मैंने अपने 'वन्दीमन्दिरम्'-नामक खण्ड-काव्य का आरम्भ—

‘कश्चिद्देशोद्धरणधृतधीस्वाधिकाराय मत्त—

स्तारूपयस्य स्फुरणसमये त्यक्तभोगाभिज्ञाषः ।

शीर्षोन्नत्यै नमितनयनो, मुक्तये बद्धदेहः,

कारागारे सुचिरवसति स्वेच्छया स्वीचकार ॥’

से किया है वहाँ उसमें कालिदास की शैली की आप छाप पड़ गई है। या मान लीजिए, मैंने वैसा जान-बूझकर ही किया है, तो क्या वह अपनी कालिदास की समकक्षता या समसामयिकता की सिद्धि के लिए? फिर भी मेरी भाषा परतन्त्रता के जिस निम्नस्तर से बोल रही है; वर्तमान भावना का ध्वनिपूर्ण सहज सामञ्जस्य प्राप्त करता हुआ भी भावप्रकाशन का क्रम आलङ्कारिक कृत्रिमता से जिस प्रकार दबा हुआ है, वह मुझे हर तरह कालिदास से बहुत पीछे रखने के लिए पर्याप्त है। यही बात 'कुन्दमाला'-वाले में नहीं है, उसकी रूढ़ में जैसे कालिदास का सुवास है। इसीलिए मुझे भी बहुतों की तरह मल्लिनाथ की विख्यात व्याख्या में विश्वास करना पड़ा, और आज उस मद्रासी उद्धरण के बाद भी (जो निचुल के लिए आया है, जिससे दिङ्नाग का कोई सम्बन्ध नहीं) मैं उस ओर से एकदम निरपेक्ष न हो सका। पर, इतना सब लिखने के बाद, मैं फिर से यह वहना चाहता हूँ कि मेरा वहाँ इस तरह के ऐतिहासिक विवेचन से कोई विशेष मतलब नहीं था—परिचय के रूप में मुझे जो कुछ कहना था, मैंने टूटी-फूटी भाषा में निवेदन कर दिया था। मुझे आरम्भ में बढ़ावा देकर अन्त में असलियत दिवाने में अपनी शैशव-मुलभ कला ही मालूम पड़ी थी, जिससे वहाँ कुछ अस्पष्टता आ गई है, पर उसका अर्थ अनर्थ-सर्जन नहीं है।

अब रही बात—कालिदास को मैंने बहुत बड़ा विद्वान् नहीं बतलाने का अक्षम्य अपराध किया है, जिसके लिए आपने मेरे 'आचार्यत्व' पर मधुर परिहास भी किया है; सो इस आचार्यत्व की तो मुझे कुछ समता नहीं, जब कि वह इतना सन्देह-मूलक या खतरनाक है। पर, मुझे इतना निवेदन करने का अवश्य हक है कि किसी व्यक्ति के भावों को अपूर्णतया ग्रहण कर उस पर इस तरह मिथ्या अपवाद नहीं लगाया जा सकता। आपने वहाँ मेरी भावना (Idea) का रुख (Direction) ही बदल दिया है। मैं कालिदास को ही नहीं, आपको भी बड़ा विद्वान् मानता हूँ, श्रद्धा करता हूँ। फिर कालिदास की विद्वत्ता का कौन कायल नहीं है। पर मेरा मतलब तो वहाँ उस तरह की विद्वत्ता से है, जिसके लिए किसी कवि ने शरद्-वर्णन के प्रसङ्ग में कहा है—'विद्वत्कवित्वमिव केकिरुतं न रेजे।' अवश्य ऐसा विद्वान् कालिदास

प्राच्यसाहित्य

नहीं। और दिङ्नाग भी नहीं, जो अलग से प्रचण्ड दार्शनिक पण्डित है; यही उसकी विशेषता है, जैसी श्रीहर्ष, जगन्नाथ आदि की। यही कारण है कि शेक्सपियर को लोग Genius मानते हैं, और Scholar नहीं, साथ ही मिल्टन को विद्वान् कवि। संस्कृत-मधु की मधुरिमा से वञ्चित रहनेवाले विदेशी अनुवाद-पाठकों ने भी कालिदास की प्रतिभा की तारीफ की है, विद्वत्ता की नहीं। आज कालिदास की प्रतिभा की प्रशंसा से विश्व मुखरित है। विश्वकवि कहलानेवाले रवीन्द्र जैसे प्रतिभाशाली ने कालिदास का लोहा माना है। विश्व-साहित्य से परिचित होते हुए भी कालिदास से प्रभावित होने में गौरव समझा है। उसके शब्दों और भावों का अपनी कविता में शतशः उपयोग किया है—

१—मुखे तार लोधरेणु लीला पद्म हाते,
कण्ठमूले कुन्दकलि कुरुषक माथे।

रवीन्द्रनाथ

२—हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं,
नीता लोध्रप्रसरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।

— कालिदास

३—द्वारे आँका शङ्ख चक्र तार दुई धारे।

— रवीन्द्रनाथ

४—द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।

— कालिदास

५—दुईटी शिशु नीप तरु पुत्र-स्नेहे बाड़े।

— रवीन्द्रनाथ

६—यस्योपान्ते कृतकनयः कान्तया वृद्धितो मे

हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृत्तः।

— कालिदास। इत्यादि।

यह सब देख-सुनकर भी मैं कालिदास को बड़ा विद्वान् (महान् प्रतिभावान् नहीं) ही मानूँ—ऐसा कैसे हो सकता है?

अगस्त '३७ ई०]

— — —

एक सौ चौवन

: १७ :

कालिदास और तुलसीदास का शृङ्गार-वर्णन

(प्रतिवाद)

कविकुलगुरु कालिदास तथा भक्तशिरोमणि तुलसीदास के शृङ्गार-वर्णन-वैचित्र्य के विषय में एक तुलनात्मक आलोचना 'माधुरी' के गत अङ्क में प्रकाशित हो चुकी है। दृष्टिकोण की विभिन्नता आवालवृद्ध प्रसिद्ध है। इसका विशिष्ट विवेचन मेरे श्रीहर्ष और कालिदासवाले लेख में किया गया है। मेरी समझ से तुलसीदास में भी अङ्ग-भङ्गिमाओं तथा शृङ्गार-सम्बन्धिनी वर्णनाओं की कदाचित् न्यूनता नहीं है। मर्यादा की बातें भक्त होने के कारण तुलसीदास में अधिक निर्युद्ध हुई हैं, पर इतने से ही चरितनायक की उदात्तता निर्भ्रान्त नहीं हो सकती। प्रसिद्धि के लिहाज से तुलसीदास कालिदास से तनिक कम नहीं, बल्कि भक्त की दृष्टि से बढ़कर भी हैं, पर इसके मानी यह नहीं कि कवित्व-कला के सूक्ष्म पर्यवेक्षण-वसर पर भी वह कालिदास से बढ़कर कलाकार हैं।

आर्य कवियों में व्यास, वाल्मीकि के बाद कालिदास केवल हैं। उनके अधिकृत स्थान पर सूर-तुलसी का संस्थान कतई नहीं हो सकता। यह तो लेखक की जबरदस्ती है, यों वह सूरज को जुगनू कह दे ! कालिदास की लेखन-प्रणाली का अश्लील या गर्हित सिद्ध कर देने पर भी तुलसीदास जहाँ पर हैं, उससे नहीं उठ सकते। मेरे कहने का यह मतलब तो है नहीं कि तुलसीदास भी कालिदास के समान ही असमान महाकवि नहीं हैं।

श्लीलता की दुहाई देनेवाले के लिए कालिदास से तुलसीदास की तुलना करना ही गलत है। कारण, कालिदास ने शृङ्गार-प्रधान काव्य लिखे हैं और तुलसीदास ने भक्ति-प्रधान। फिर, रामायण का प्रतिपाद्य

एक सौ पचपन

प्राच्यसाहित्य

विषय कुमारसम्भव, (तनिक व्यङ्ग्यार्थ पर भी ध्यान दें) मेघदूत या शकुन्तला तो है नहीं। मेघदूत का यक्ष और शकुन्तला का दुष्यन्त मर्यादापुरुषोत्तम नहीं; वे सांसारिक हैं, अतएव सांसारिक चित्रण उनके चरित्र की स्वाभाविकता के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना मर्यादापुरुषोत्तम की मर्यादित भावनाओं की परिपुष्टि के लिए अलौकिक या असांसारिक चित्रण। रह गया कुमारसम्भव में हर-गौरी का अनुचित शृङ्गार-वर्णन, सो तो उनकी प्रतिभा की बदौलत उतना ही दबा हुआ है, जितनी उसके कालिदासकृत न होने की बात उभरी हुई है।

ध्वन्यालोक में लिखा है—

‘अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।

यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य कर्णित्येवावभासते ॥

तथाहि महाकवीनामप्युत्तमदेवता विषयकप्रसिद्धसंभोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तिरिरस्कृतं ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते । यथा कुमारसम्भवे देवीसंभोगवर्णनम् ।’

अर्थान्, अव्युत्पत्तिजन्य दोष (एकवचन से यह पता लगता है कि बहुत्वविवक्षा में संवरण असम्भव है। कालिदास ने ही लिखा है ‘एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः’) कवि की उद्दाम प्रतिभा से छिप जाता है, पर प्रतिभा के अभाव से उत्पन्न दोष तो कतई छिपने का नहीं। जैसे कुमारसम्भव में पार्वती-संभोग का अनुचित वर्णन उनकी प्रतिभा के परम-प्रकाश में तम-सा निगूढ़ हो गया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने ‘शक्तिः प्रतिमानं, वर्णनीय-विषय-नूतनोत्प्लेखशालित्वम्’ लिखा है, साथ ही ‘अनौचित्य’ का अर्थ आस्वादयिता के रसास्वाद का विघातमात्र बतलाया है। देवतों के शृङ्गार-वर्णन में, आस्वादावसर पर सहृदय को लज्जा मालूम पड़ती है, या डर लगता है, जिससे रस का विघात हो जाता है। पर, कालिदास की प्रतिभा का प्रभुत्व तो पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है, इसलिए कवि ने वहाँ पर वह करामात दिखाई है, जिससे सहृदयों का हृदय मकरन्द में अलि की तरह फँस जाता है। वह आनन्दाम्बुधि में डूबने-उतराने लगता है; जैसे उसे व्यर्थ का पौर्वापर्य-विमर्श उस समय अच्छा न

एक सौ छपन

कालिदास और तुलसीदास का शृङ्गार-वर्णन

लगता हो। वस, इस तरह का रस-परिपाक ही कवि की अभिप्रेत वस्तु है।❀

आदर्श की बाबत मैं यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त समझता हूँ कि कालिदास केवल आदर्शवादी नहीं थे, फिर भी उनकी कला आदर्श से सूनी नहीं। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' काव्य की यह उपयोगिता तो कालिदास के कमनीय काव्यों से ही सिद्ध होती है। कुमारसम्भव में जिस आदर्श को कला का ललित रूप दिया गया है, वह कदापि गहिर्त नहीं हो सकता। फिर भी मैं यह नहीं कहना चाहता कि कालिदास ने जैसा लिखा है वही ठीक है; क्योंकि, कालिदास ने भी ठीक लिखा है, इतना ही मेरा अभीष्ट प्रतिपाद्य है। तुलसीदास ने शृङ्गार का वर्णन विस्तृत रूप से नहीं किया, यह कोई विशिष्ट आदर्श नहीं है। वाल्मीकि की यथार्थता तुलसीदास से उनकी न्यून प्रतिभा होने का परिचायक नहीं है। सीता के स्तन में चोंच मारने की बात वाल्मीकि में भी बतलाई गयी है। भक्त होने के कारण तुलसीदास उसे टाल गये तो इसके मानी यह नहीं कि वाल्मीकि या कालिदास की दृष्टि शृङ्गारिक है। भक्ति और कविता भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। मुख का वर्णन करते समय भक्तकवि की दृष्टि चरणों पर ही कैसे रही होगी? सच तो यह है कि उत्तम देवता-विषयक रति का वर्णन भी राजों के रति-वर्णन की तरह ही किया जाता है, यह साहित्य-शास्त्र का सिद्धान्त है। कालिदास ने इसमें चूक नहीं की, उन्हें भक्त कहलाने की कम पड़ी थी।

लेखक नाराज न हो तो यह कहना भी निरर्थक न होगा कि—

‘खञ्जन सुक कपोत मृग मीना’

मधुप न्दिकर कोकिला प्रवीना।

और

‘हरिपर सरवर सरपर गिरिवर तापर फूले कंज पराग’

—सूर

* कालिदासवाले लेख में मैं लिख चुका हूँ, उन्होंने शृङ्गार को ही क्यों पसन्द किया है, इसलिए इस विषय पर विशेषकर यहाँ लिखना व्यर्थ समझता हूँ।

एक सौ सत्तावन

प्राच्यसाहित्य

यह सब पहेली से अधिक शृङ्गाररस की द्योतक कविता नहीं हैं । रूपकातिशयोक्ति उत्तमोत्तम कविता का मूल हो भी नहीं सकती । उत्तमोत्तमता अलङ्कारों की इतनी अपेक्षा नहीं करती ।

सम्भोग शृङ्गार

लेखक ने इस शीर्षक में कालिदास की कला के ऊपर अपनी विपरीत दृष्टि की छुरी इतनी बेरहमी से चलाई है कि वह विकल बनी बैठी है । मालूम हो कि राम-सीता का बगीचे में मिलना दुष्यन्त-शकुन्तला के वन-मिलन से उतना ही असादृश्य रखता है, जितना बगीचा जङ्गल से । राम फूल तोड़ने गये थे, और दुष्यन्त शिकार खेलने निकले थे । दुष्यन्त का उद्देश्य आश्रम-मृग का मारना कदापि न था, ऐसा सोचना-समझना आपकी अस्पष्ट दृष्टि का परिचायक मात्र है । आश्रम में जाने के लिए महर्षि कुमारों ने ही प्रार्थना की थी । अगर राम से विभिन्न दुष्यन्त की कुछ चञ्चल मनोवृत्तियाँ वहाँ अङ्कित की गई हैं तो उसका अर्थ आपके समान अनर्थ करना नहीं । कालिदास का वहाँ पर जो बात बतलानी है, वह तुलसीदासवाली से कोई सम्बन्ध नहीं रखती । दुष्यन्त की चपल मनोवृत्तियों का वर्णन आपकी दृष्टि में संयमित चाहे न हो, पर वह सत्यता से सूना कतई नहीं । 'सत्य-शिव-सुन्दरम्' का कला से जहाँ तक सम्बन्ध है, कालिदास वहाँ तक सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं । कलाकार का काम रामचरित्रगान-मात्र नहीं हो सकता, इसलिए उसकी कृति का असंयमित कहना अपनी वाणी का असंयम है । तुलसीदास जी सदा आदर्श-चित्रण की तरफ दृष्टि रखते थे । पर, कालिदास का भी आदर्श कम स्वच्छ नहीं । अच्छी तरह परखना आवश्यक है । एक राजा की दृष्टि राम की जैसी न होगी, पुनश्च राम उस समय कुमार या किशोर थे, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते आये थे, पर दुष्यन्त तो तब भी पूर्णवयस्क थे और अनेक रानियोंवाले राजा थे । उन कोमल सकुमारियों का देखकर अगर उनके मुँह से 'राम-राम' कइलाया जाता तो कितनी स्वाभाविकता होती, लेखक जाने ।

‘करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लुभान ।

मुख-सरोज मकरन्द-छवि, करत मधुप इव पान ॥

एक सौ अष्टावन

कालिदास और तुलसीदास का शृङ्गार-वर्णन

—में न-जाने भोले राम की कितनी मुग्धता अङ्कित की गई है? भला रूपान भी शृङ्गार कहला सकता है? वासनाजन्य प्रेम का फल शाप और फिर तन्मयता की तपस्या से तप्त होने पर 'स्वर्गीय मिलन' यह भाव, सांसारिक अनुभवनीय सत्य का चित्रण न कर शकुन्तला को देखते ही आँख मूँदनेवाले दुष्यन्त के द्वारा कैसे सिद्ध किया जा सकता था, समझ में नहीं आता। फिर स्वाभाविकता को तिलाञ्जलि देकर उपस्थापित आदर्श, आदर्श है किन्तु वह धूमिल भी अवश्य होगा। 'कालिदास ने भी तुलसी की तरह राम-चरित ही क्यों न लिखा?' यह सवाल किया जा सकता है, पर 'यही सवाल क्यों? दूसरा क्यों नहीं?' उसका इतना ही जवाब भी काफी न होगा? स्वाभाविकता के नाम पर पाश्चात्य साहित्य-सदन में Tragedy की कितनी ऊँची दीवारें खड़ी हैं! एक नैतिक अनुभवनीय, दुष्यन्त के पहले चलित चरित्र को अनुचित कहकर राम की बड़ाई करना उनकी बड़ाई की निन्दा ही है। दुष्यन्त चक्रवर्ती नरेश होकर भी मनुष्य से अधिक न थे, पर राम मनुष्यरूप में परब्रह्म थे। तुलनात्मक विवेचन के समय मूल-विभेद पर भी दृष्टि देनी चाहिए।

तमाम लेख में कालिदास को बेवकूफ बनाने की निरर्थक चेष्टा की गई है। मैं एक-एक का उत्तर देकर इस लेख का कलेवर बढ़ाना निरर्थक समझता हूँ। मालूम होता है, लेखक भी कालिदास को पसन्द करते हैं, पर चूँकि तुलसीदासजी का आदर्श समझते हैं, इसलिए कालिदास से अधिक रामायण का ही मनन किया है, नहीं तो 'राम के साथ लक्ष्मण हैं और दुष्यन्त के साथ उनका सखा सारथी हैं' ऐसी निर्मूल पंक्ति न लिखते; क्योंकि सारथी को दुष्यन्त ने आश्रम की सीमा के बाहर ही छोड़ दिया था। रथ हाँकने के वक्त का साथ कोई साथ नहीं और लक्ष्मण राम के सदा साथ रहे थे। मैं समझता हूँ, लक्ष्मण के साथ होने के कारण राम का शृङ्गार सीमित हुआ है और एकाकी होने के कारण दुष्यन्त का समृद्ध। दोनों कवियों ने दो पहलुओं से दो बातें बड़ी सूक्ष्मता से बतलाई हैं; दोनों ही बड़े हैं।

मार्च '३६ ई०]

— — —

: १८ :

मानस में सीता

(प्रतिवाद)

‘चाँद’ के विगत नारी-आन्दोलन-अङ्क में प्रकाशित श्रीयुत सत्य-जीवन जी वर्मा, एम्० ए० के ‘भवभूति की सीता’ शीर्षक सुन्दर निबन्ध ने फरवरी के ‘चाँद’ में छपे श्री० ऋषभदासजी जैन, एम्० ए० के ‘मानस में सीता’ नामक लेख को मननात्मक दृष्टि से देखने के लिए मुझे प्रेरित किया था । आप ऐसा न समझ लें कि मैं सीताराम का कोई भयानक भक्त हूँ और इसीलिए वैसे लेख ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ना चाहता हूँ; किन्तु सत्यजीवन जी के लेख में जो सत्य तथा जीवन था, उसी ने मुझे चक्कर में डाल दिया । आज दिन हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में जैसी समालोचनाएँ प्रायः प्रकाशित होती हैं, उनकी समालोचना कर कोई अपने सर बला लेना क्यों चाहेगा, पर इसके मानी यह नहीं कि ‘खट्टे अंगूर कौन खाए ?’ दुःख तब होता है जब वैसे-वैसे लेख पढ़कर लोग अच्छे लेखों को भी छोड़ देने के लिए बाध्य हो जाते हैं, ‘बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ।’ अस्तु ;

मैं मानता हूँ कि आज की शिक्षा ने सबकी रुचि में काफी परिवर्तन कर दिये हैं; पर सहज संस्कारों का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता । एक सुसंस्कृत-बालक राम की बुराइयों की समालोचना करना या सुनना नहीं पसन्द करता, तो इसका मतलब यह नहीं कि वह पोंगा-पन्थियों के कुल का है; फिर भी ईश्वर-निन्दा को कान तक पहुँचने देने में आना-कानी करनेवाले उस लड़के के ईश्वरवादी संस्कार पर विश्वास करना होगा । उपर्युक्त दोनों ही सज्जन एम्० ए० हैं, पर दोनों के मौलिक संस्कार उनके तत्साध्य निबन्धों की तरह परस्पर विभिन्न हैं । दोनों ने दो कवियों की आड़ से अपनी मनोगत भावनाएँ, मनन-विवेचनात्मक दृष्टियाँ प्रकटित की हैं, पर यह कहने की शायद आवश्यकता न होगी, कि वर्माजी की भावनाएँ अधिक परिपुष्ट हैं, और नजर ज्यादा साफ ।

एक सौ साठ

जैन जी की समालोचना की एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि उन्होंने सीता के साथ-साथ तुलसीदासजी की भी आलोचना की है; जो उनका आलोच्य विषय नहीं है, हालाँकि मैं उसे बुरा नहीं मानता, पर यदि वह अपेक्षित हो, साथ ही साथ उचित भी। पर, वहाँ दोनों ही बातें नहीं हैं। हिन्दी में बिगाड़ने के अर्थ में जो 'बनाने' का मुहावरा है, बस वही तुलसीदासजी के लिए वहाँ व्यवहृत हुआ है। जैसे शिव-भक्ति-प्रदर्शन के लिए उन्होंने भङ्ग पी हो, और उसी के नशे में मानस में असम्बद्ध पंक्तियाँ लिख गई हों, इत्यादि। अगर उसके उत्तर में मैं यह लिख दूँ, कि जैन साहब ने मधुशाला से लौटकर और 'चाँद' के अधिकांश सुधारवादी पाठकों को खुश करने के लिए वैसा असंयत लेख लिखा है; तो क्या आप उसे जवाब देने की मर्यादा का कचूमर निकालना न कहेंगे? ठीक यही हाल जैन साहब के सारे लेख में है।

मैं किसी धर्म-विशेष का आग्रही नहीं, पर यहाँ इतना लिखना अतीव आवश्यक है कि गीता तथा रामायण आदि समझने के लिए भक्त होना अपेक्षित है; कारण भक्ति निकाल देने पर उपर्युक्त ग्रन्थों की कोई कीमत नहीं रह जाती। कवित्व-कला या कारीगरी के अच्छे-अच्छे नमूने पेश करने के लिए इन किताबों की सृष्टि नहीं हुई है! आप जानते हैं, श्रीकृष्ण को साक्षात् ईश्वर न मानने पर विश्वरूपदर्शन-प्रसङ्ग, असम्भव या असत्यता का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप मात्र रह जाता है, और उसके बिना गीता के उद्देश्य की पूर्ति भी एकान्त असम्भव है, इसलिए वैसा मानना पड़ेगा ही। उसी प्रकार रामायण के लिए राम को ईश्वर मानना आवश्यक है।

हमें मालूम है, तुलसीदासजी को आजकल के तुकड़ों की तरह कविता करने की बीमारी न थी; उन्होंने जो कुछ लिखा भक्ति से आप्यायित होकर। यदि कवि की कविताएँ उसके मानस की स्वच्छ छाया होती हैं, तो 'मानस' देखकर किसका मानस न मान लेगा कि वह भक्ति की ललित लहरियों से लहरा रहा है; अपने चरित-नायक के मानस की तरह स्वच्छ और सुन्दर है।

पर, महर्षि वाल्मीकि राम को आशीर्वाद देनेवाले थे, दूसरे उन्हें

प्राच्यसाहित्य

आदि-कवि कहलाकर 'आदिकाव्य' की सृष्टि करनी थी, इसलिए उन्होंने राम को ईश्वर-रूप में न लेकर आदर्श पुरुषोत्तम के रूप में लिया। फिर भी राम के जिस रूप की कल्पना उन्होंने की है वह 'सुपर मैन' की ही हो सकती है। क्या इसे सप्रमाण सिद्ध करने की आवश्यकता होगी ?

ईश्वर और मनुष्य के भेद को उसी प्रकार छोड़ देने पर भी रामायण को आप महाकाव्य मानते हैं या नहीं ? यदि हाँ, तो महाकाव्य के किस लक्षण के अनुसार तुलसीदास जी ने सीता का बाल्य न वर्णित कर साहित्य के प्रति अन्याय किया है ? सभी जानते हैं, 'नैषधीय चरित' संस्कृत का श्रेष्ठ महाकाव्य है, पर खास उसके नायक राजा नल का बाल्य उसमें एक पंक्ति में सङ्केतित तक है ? कुमारसम्भव में एक ओर जहाँ पार्वती का 'क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये' हुआ, वहीं शङ्कर से 'बम' बोलवाया गया है; पर वहाँ दोषान्वेषण करना आत्ममुख से अपने को दोषी बताना है ; कारण, आनन्दवर्द्धन ने लिखा है—

‘नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनमितिहासादेव तस्मिद्धः ।’

अर्थात् कवि को कथानक मात्र लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह इतिहास से आप सिद्ध रहता है।

इससे यह तो सुस्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्यों की निर्मिति सुप्रसिद्ध कथानकों के आधार पर होती है। हमें उन जीर्ण-शीर्ण कथाओं का संस्कृत, परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप मात्र देखना अवशिष्ट रहता है। और सच तो यह है कि अनावश्यक बातें लिखना गोस्वामी जी को पसन्द न था, रामचरित वर्णन करना ही उनका अभीष्ट था, इसलिए रामचरित्र-विकास के लिए जहाँ से सीता का साथ होना आवश्यक हो गया, ठीक उस स्थान से तुलसीदास जी ने उन्हें शामिल कर लिया।

सीता का बहुत बढ़िया वर्णन करना तो दूर, उन्होंने सीता-वनवास की अतिशय प्रसिद्ध कथा तक नहीं लिखी, तो क्या आप इसे उनकी कमी मानते हैं ? मैं तो नहीं मानता, क्योंकि ऐसा करने से वह अपनी उद्देश्य-पूर्ति में अधिक सफल हो सके हैं। अगर उनके उद्देश्य की बावत कुछ खटका हो तो मैं विस्तृत रूप से फिर लिख सकता हूँ।

एक सौ बासठ

‘निज अनुरूप सुभग वर माँगा’ का अनर्थ करने के लिए आपने एक पूरा सफा खर्च किया है, सारे कवित्व को भी आपने साफ कर दिया है उसमें। उसे छोड़ दीजिए, नैयध के इस पद्य का अर्थ कीजिए—

‘तृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां विदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।

विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥’

यहाँ ‘निजरूप’-सम्पद् के ‘अनुरूप’ राजा नल को समझकर दमयन्ती के पूर्वराग का वर्णन किया गया है। क्या दमयन्ती अपने को सुन्दरी समझती थी? या समझती भी होगी, तो क्या संसार में ऐसी भी स्त्रियाँ सुनने में आती हैं, जिन्हें शूर्पणखा की बहन होने का नाज होता है? आपने तो वहाँ अपने विचारों की उल्टी गङ्गा बहाई है। यह तो सुप्रसिद्ध बात है, कि स्त्रियाँ सुन्दर वर चाहती हैं, उन्होंने भी अपने लायक (‘अनुरूप’ जैसा वह चाहती थीं) सुन्दर वर माँगा, तो गलती क्या की, या अस्वाभाविक क्या हुआ? रह गई बात सकाम भक्ति की। आपने भी पावनी को देवी माना है, क्या मैं दर्बी जवान से पूछ सकता हूँ, ‘उन्होंने शङ्कर-प्राप्ति के लिए उतनी घोर तपस्या क्यों की थी?’ सीता को तो सुभग-वर प्राप्ति की भी आशा थी, पर वहाँ ‘वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते, तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने’ था। उसी प्रकार मानवी होने पर ही सीता का वर माँगना उपपन्न होता है, यह कहना गलत है। साथ ही हमलोगों के मन से राम-सीता के मनों की तुलना करना जबरदस्ती नहीं तो और क्या है, उनकी चञ्चलता पर हमें यह सोचना क्यों उचित नहीं है, कि वह विधाता की इच्छा का पूर्वरूप मात्र था, नहीं तो वैसे-वैसे उदात्त हृदयों की वैसी दशा कैसे?

महाकवि श्रीहर्ष ने लिखा भी है—

‘अवश्यमव्येधनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसस्सृष्टा,

तृष्येन वायेव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशोऽवशात्मना ।’

दूसर ‘विधाता की इच्छा’ कहना आज के सभ्य शिक्षितों के लिए जितना भी दुर्बलता-सूचक हो, पर वह अनादि काल से आस्तिकों के लिए एकमात्र सान्त्वनाप्रद गौरवमय वचन रहा है। आजकल के कॉलेज की शिक्षा पाये राम ने तो वैसा कहा भी नहीं है। जो राम सीता जैसी साक्षान् देवी का निर्वासन कर सकते थे, उनका उनके

प्राच्यसाहित्य

की तरह समझ लेता हूँ, राक्षस-योनि में जन्म ग्रहण कर सुर-सुलभ भाव प्रदर्शित करने के कारण शायद साधारणों से महान् भी। यद्यपि प्रकृति की उच्छृंखलता या नारी का चण्डी-रूप असत्य नहीं और इमीलिष कविता में उपर्युक्त रसों की सृष्टि भी अवाञ्छनीय नहीं कही जा सकती; किन्तु तो भी कलाकार की कारीगरी सँवारने में कारगर समझी जाती है, सचाई की कै कर देने भर में नहीं। फलतः माधुर्य ही, प्रकृति के वासन्तिक विकास की तरह, कविता या नारी-मूर्ति का उन्नायक माना जायगा; और स्वभाव का इतना सहज समान-सन्निकर्ष, प्रकृति, कविता और नारी को एकाकार करनेवाला।

भगवती वाग्देवी नारी-मूर्ति। कविता के बाह्य उपकरणों में, क्षिति से नीलिमा तक प्रकृति की प्रभूत विभूतियाँ प्रायः स्त्रीत्व से ओतप्रोत। और प्रतिभा, कल्पना, भावना, अनुभूति, शक्ति प्रभृति भीतरी समग्र सामग्रियाँ भी भरपूर नारीत्व-पूर्ण। यदि प्रकृति ने कविता को नारीरूप दिया है तो निस्सन्देह नारी ही कविता का अनुरूप रूप है।

कवि जन्मजात प्रेमी है। उसकी कविता प्रेम का परम रमणीय परिणाम। और नारी? उसका तो मेरुदण्ड ही प्रेम है। प्रेम की रूप-रेखा नहीं हो सकती। कारण, वह किमी दायरे के भीतर रहनेवाली वस्तु नहीं।

‘सखि कि पुछास अनुभव मोय ।

सेहो पिरिति अनुराग बखानइल

तिले तिले नूतन होय ।

जनम अवधि हम रूप निहारल

नयन न तिरपित भेल,

सेहो मधुर बोल सवनहि सुनल

सुतिपथे परस न गेल ।

कत मधु जामिनि रभस गमाओल

न बुझल कैसन केल ।

लाख लाख जुग हिय हिय राखल

तइओ हिय जुडन न गेल ।’

एक सौ छियासठ

प्रकृति, नारी और कविता

प्रेम की बलात् की गई व्याख्या भी चाहे साहित्यिकता का प्रमाण हो, पर वह साहित्य की कदापि नहीं हो सकती। गीता चाहे साहित्यिक ग्रन्थ हो, पर साहित्य तो गीतगोविन्द है। कविता में प्रेम की व्याख्या, नहीं, तन्मयतापूर्ण कल्पना या अनुभूति होती है। नारी भी प्रेम का उदाहरण नहीं, तत्स्वरूप ही है। दोनों ही सहृदयों के प्रेम की अपेक्षिता रहती हैं, अनुसन्धान की नहीं। कविता और नारी की प्रेमप्राणता—एकरूपता इस प्रकार भी है।

विश्व में कभी वैसा श्रेष्ठ कलाकार कहीं देखा-सुना न गया, जो प्रकृति या नारी की बारीकी से आँखें चुराकर, पाँखें लगाकर कला की उँचाई तक पहुँच गया हो, प्रेम और विरह की रहस्यमयी भावनाओं से बरी रहकर बड़ा भावुक बन बैठा हो। किसी अदृश्य सर्वश्रेष्ठ कलाकार की कारीगरी के सबसे अधिक निखरे नमूने—यह प्रकृति और नारी हैं, जो स्वयं कविता हैं। यही कारण है कि कलाकारों ने अपनी कला का सकल प्रदर्शन नारी की विभिन्न भाव-भङ्गिमाओं में किया है। प्रकृति की उदात्त-वर्णना में भी प्रायः नारी-कल्पना ही सुमधुर तथा सूक्ष्म-सौन्दर्यमयी रही है। कविता में नारी की महत्ता का इससे ज्वलन्त निदर्शन दूसरा क्या हो सकता है ?

‘एषा दिवो दुहिता प्रत्यर्क्षि

व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः ।

विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व

उषो अद्येह सुभगे व्युच्छे ॥’

× × ×

‘प्रबोधयन्त्यरूपेभिरश्वै-

रुषायाति सुयुजा रथेन ।’

—ऋग्वेद

‘वञ्जच्चन्द्रकरसरशं —

हर्षोन्मीलिततारका ।

अहो रागवती सन्ध्या

जहाति स्वयमम्बरम् ॥’

—वाल्मीकि

प्राच्यसाहित्य

‘किन्ते कृतं चिति तपो बत केशवाङ्गि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकितान्तरुहैर्विभासि ?’

—भ्यास

‘कुबेरगुप्तां दिशमुष्णारश्मौ
गन्तुमग्रवृणो समयं विलङ्घ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन
व्यञ्जीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज ॥’

—कालिदास

‘काँदिया फिरिते छिल वनान्तर घुरे
उदासिनी प्रतिध्वनि, छायाय अदूरे
सरोवर प्रान्तदेशे चद्र निर्मरिणी
कलनृत्ये बाजाइया माणिक्यकिङ्किणी
करलोले मिशिते छिल ।’

—रवीन्द्रनाथ

अर्थात्—

आकाश की कुमारी, शुक्र-नक्षत्र की सारी से सँवारी हुई तरुणी उषा, बड़े ही सबेरे, नींद में विभोर प्राणियों को जगाती, अरुण-अश्वोंवाले रथ से आती है ।

चाँद के करों (किरणों) का परस पाकर खिले हुए नयन के तारोंवाली अनुरागभरी संध्या आप अम्बर (आसमान) छोड़ देती है ।

अरी हरी भूमि ! पिछले जन्म में तूने कौन-सी करारी तपस्या कर रक्खी थी कि कृष्ण के अरुण चरणों का तुझे स्पर्श मिला जिससे तेरी सारी देह सिहर उठी है और तू इतनी फबीली दीख रही है ?

समय (मर्यादा) का बाँध तोड़कर जब सूरज ने कुबेर की दिशा (स्त्रीरूप से रक्षिण उत्तर दिशा) के साथ बरबस संगम करने की ठानी तो उसकी (सूरज की) दक्षिण (अनुकूल, अपनी) स्त्री के समान दक्षिण-दिशा ने (क्योंकि वह पहले अनेक दिनों तक उसके पास रह चुकी थी) पीरभरी साँस छोड़ी, शाश्वत इसी लिए मलयानिल ददेंदिल पैदा करता है ।

एक सौ अरसठ

प्रकृति, नारी और कविता

उदासिनी प्रतिध्वनि विपिन-प्रान्तरों में रो-रो-कर भटक रही थी, छाया के पास ही सरोवर (अच्छोद) के प्रान्त भाग में एक लुद्र निर्भरिणी आनन्द-नृत्य करती और माणिक्य की कल-किङ्किणी बजाती हुई कल्लोलों में विलीन-सी हो रही थी ।

इन निर्वाचित विचित्र चित्रों में नारीत्व ने जान डाल दी है । प्रकृति की नारी-मूर्ति के ऐसे चित्रों में बाह्य सौन्दर्य की रंगीनी जितनी आकर्षक जान पड़ती है, अन्तर्भावाँ में नारी-प्रतिमा का प्रकाश उससे और अधिक भास्वर होता है ।

‘उद्गीर्णदभंकवला मृगी परित्यक्तनर्पणा मयूरी ।

अपसृतपाण्डुपद्मा मुञ्चत्यभ्रणीव लता ॥’

‘महेन्द्रमास्थाय महोच्चरूपं

यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।

चकार बाणैरसुराङ्गनानां

गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥’

— कालिदास

‘वृथार्पयन्तोमपथे पदं त्वां

मरुल्ललत्पल्लवपाणिकर्पैः ।

आल्लोव पश्य प्रतिषेधतीयं

कपोतहुंकारगिरा वनाल्ली ॥’

— श्रीहर्ष

‘शकुन्तला की बिदाई के समय आश्रम-प्रकृति की ‘समवेदना’ बतलाई जा रही है; वह तो प्रकृति के पालने पर प्रतिपल पली ही थी ।—‘हरिणियों ने मुँह में लिया हुआ घास का घास उगल दिया, मयूरियों नाचना भूल गईं, और टपकते हुए पीले-पीले पत्तों के मिस मानो लतिकाएँ आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें बरसाने लगीं ।’ यहाँ कालिदास ने हरिणों, मयूरों और तरुओं का नाम तक न लिया, यद्यपि ऐसा करने से जाति के उपादान के कारण हरिणियों, मयूरियों और लतिकाओं का आप बोध हो जाता । पर यहीं वह बारीकी है जिसके बहुत बड़े जानकार कालिदास हैं । वह कहना चाहते हैं कि शकुन्तला

एक सौ उनहत्तर

प्राच्यसाहित्य

की बिदाई का कारुण्यपूर्ण प्रभाव नारी-जाति पर ही अधिक पड़ा था; स्त्री की हमदर्द स्त्रियाँ ही अधिक हो सकती हैं, [पुरुष की परुषता पर एक अव्यक्त कटाक्ष भी है; यहाँ, कण्व, जिन्होंने पहले कारुणिकता का अद्भुत स्वांग रच रखा था, शकुन्तला के जाते ही सूखे ज्ञान-वैराग्य की ओट में पुरुष-हृदय का सच्चा स्वरूप दिखलाने लगे थे—

‘अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातोऽस्मि सद्यो विशदान्तरात्मा
विरस्य निक्षेपमिवार्पयित्वा ।’]

इस नारी-कल्पना ने अन्तर्भावों को कितना सँवार दिया !

कुमारी इन्दुमती के सामने सुन्दरी सुनन्दा महाराज अज की वीरता का बखान कर रही है—‘अज ने तन्दी के स्वरूपवाले महेन्द्रपर्वत पर चढ़कर साक्षात् शङ्कर के समान, लड़ाई में अपने तीखे नुकीले तीरों से, असुराङ्गनाओं के गोरे गालों पर की केसर कुंकुम की सारी नक्काशी मिटा दी है।’ तब सधवा स्त्रियाँ अपने कमनीय कपोलों पर केसर अंगर, रोली-गुलाल आदि से भाँति-भाँति के फूल-पत्तों की तसवीरें बनाया करती थीं, जैसे आजकल पिचके गालों पर स्नो-पाउडर बगैरह पोतती हैं। अज के द्वारा उनके पतियों के मारे जाने पर उनके गाल हमेशा के लिए सूने हो गये, बताया जा रहा है। यों तो पूरी कविता ही कालिदास की नाजुक-अन्दाजी की बानगी है, पर गालों की स्त्रीमूर्ति ने उसमें और चार चाँद जड़ दिये हैं। एक तां वे अङ्गनाएँ शृङ्गार-शून्य कर दी गयीं, दूसरे उनकी कपोल-पाली का चित्र-रेखा-हीन होना कपोल की नारी-कल्पना से उत्पन्न दो कोटि तक पहुँचे हुए सौन्दर्य का निर्माण हुआ।

३—यहाँ भी दमयन्ती को अपथ पर पैर रखते देख पाणिपल्लव हिला-हिलाकर तथा कपोत के हुंकार के द्वारा ‘बनाली’ मना कर रही है, बन नहीं।

वास्तविक नारी की महनीय मूर्तियों से तो सारी साहित्य-संस्कृति ही श्रीमय है। कालिदास की पार्वती और शकुन्तला, भवभूति की सीता,

एक सौ सत्तर

प्रकृति, नारी और कविता

भारवि की द्रौपदी आदि कविता की मङ्गलमयी देवियाँ हैं। श्रीहर्ष की वाग्देवी की तसवीर भावनामयी महिला का अनुपम निदर्शन है—

‘मध्येसमं साऽवततार बाला गान्धर्वविद्याधरकण्ठनाला ।
त्रयीमयीभूतवलीविभंगा साहित्यनिर्वसितश्करङ्गा ॥’

× × × ×

‘भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्विन्दुना भालतमालपत्रम् ।’

सङ्गीत का कण्ठ, साहित्य की चितवन, ओंकार के दोनों दलों की भौंहें और उसके मध्य-विन्दु की बेंदी, कितनी मनोहर कल्पना है !

कधीर की समूची रहस्य-सृष्टि नारी के व्याह-गौने के भीतर गीत-रूप में निहित है। रवीन्द्रनाथ की—

‘से ये पाशे ऐसे बसेछिल तबु जागि नि ।

की घुम तोरे पेयेछिल हतभागिनी ॥’

× × × ×

‘केन गो तार मालार परश बुके लागेनि ।’

कितनी रहस्यमयी नारी-सृष्टि है !

जयदेव और विद्यापति की राधा अधिक भावुकताभरी नारी हैं। मानो प्रेम और विरह की मधुर-माधुरी नारीरूप में उतर आई हो।

‘जेहि देश पिक मधुकर नहि गुंजर

कुसुमित नहि कानने

छत्रो रितु मास भेद नहि जानए

सहजहि अबल मदने

सखि हे सं देस पिया गेल मोरा

रसमति बाणी जतए न जानिअ

सुनिय पेम बड़ थोरा ।’

× × × ×

‘सखि हे हमर दुखक नहि ओर रे;

ई भर बादर माह भादर सून मन्दिर मोर रे ।’

— विद्यापति

एक सौ इकहत्त

प्राच्यसाहित्य

विरह-सङ्गीत की स्वरलहरी के भीतर राधा के झूबते-उतराते प्राण की सहज ही कल्पना की जा सकती है। भारत की यह महिमाभयी नारी-मूर्ति भारतीय साहित्य का प्राण है। माइकेल की प्रमीला गर्व की वस्तु है।

अभिनव 'कविता' की इस नारी-प्रतिमा में भी कुसुमित लावण्य के कुछ मकरन्द-विन्दु हैं—

‘शिलाखण्ड पर बैठी वह,
नीलाञ्जल मृदु लहराता था—
मुक्त-बन्ध सन्ध्या-समीर-सुन्दरी-संग
कुछ चुप चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था ;
विकसित अस्मित सुवासित उड़ते उसके
कुञ्चित कच गोरे कपोल छू छूकर,—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे
थपकी एक मारकर बड़े प्यार से झुल्लाते थे,
शिशिर विन्दु रस सिन्धु बहाता सुन्दर
अङ्गना-अङ्ग पर गगनाङ्गन से गिरकर ।’

—निराज्ञा

संसार की सारी भापात्रों का साहित्य नारी और प्रकृति से परिपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किये हुए है। कविता के संग इनका सहज सम्बन्ध-बन्धन एकान्त अविच्छेद्य है—कविता के इनसे उत्कृष्ट स्वरूप अकल्पनीय हैं— यही कविता हैं।

मार्च '३८ ई०]

— — —

: २० :

जयदेव और विद्यापति

१

गेटे और प्रियर्सन की परम-प्रशंसाओं, शत शत भक्त और प्रेमी-विरही नर-नारियों के कल-कलरव से मुखर, भक्ति और शृङ्गार के अमिलन पुलिनों को छापकर छलकनेवाली, जयदेव और विद्यापति की कविता-कञ्चेलिनी, पिछले पाँच-सात शतकों से मानव-मन के कलंक-कल्मषों को धोती हुई, गङ्गा-यमुना की तरह अविराम बह रही है। विश्व-साहित्य-समुद्र में मङ्गलमय सङ्गम प्राप्त करनेवाली इन युगल निर्मल जलधाराओं की बड़ी महिमा है। पूर्व के इन अपूर्व साहित्यिकों का पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सब ओर बड़ा नाम है। कश्मीर के केसर के समान ये दोनों क्रमशः बंगाल और बिहार के महान् दान हैं।

भारतीय गीति-काव्य का जन्मदाता जयदेव, काव्य में 'मधुर-कोमल-कान्त-पदावली' की नींव देनेवाला भी है, पहला प्रशंसक भी।

‘जज्ञित-खवङ्ग-लता परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे

मधुर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कूटीरे ।’

साहित्य में सङ्गीत की पहली खुली इज्जत है। इसके पहले ‘ध्योरियों’ द्वारा साहित्य और संगीत के Back ground को समान मानने की चेष्टाएँ भले ही हुई हों, दोनों की आत्माएँ पृथक् थीं। जयदेव ने पहली बार अपनी मोहिनी मुरली की तान कविता-सुन्दरी के प्राणों में फूँकी है। संगीत के ‘सप्त’ स्वरों का अपने काव्य की ‘अष्ट’ पदियों में नव रूप प्रदान किया है। काव्य में कल्पना और अनुभूति, सौन्दर्य और माधुर्य, रस और ध्वनि के साथ, राग और ताल का, यह ऐसा—भीतर-बाहर का प्रकट सम्बन्ध प्राचीन विश्व-साहित्य में दुर्लभ है।

जयदेव से महादेवी तक, आज यहाँ, गीति-काव्य का इतना अधिक प्रचार प्रसार हो चुका है कि सूर-कवीर, चण्डीदास-विद्यापति,

एक सौ तिहत्तर

मीरा-रवीन्द्रनाथ आदि को मद्दे-नजर रखते हुए यह कहना अत्यन्त सहज-सरल मालूम होता है कि भारतीय साहित्य का स्वर्णिम सरोज तो सजल-संगीत की ललित-लाल लहरियों पर लहरा रहा है !

२

जयदेव बंगाल के विख्यात सेन-वंशीय राजा लक्ष्मण-सेन के दरबार में थे। सेनवंश का राज्य ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त और बाहरवीं के शुरू में कायम हुआ था। १११६ ई० में बल्लालसेन का लड़का लक्ष्मणसेन गद्दी पर बैठा था और ८० वर्षों तक राज्य किया था। फलतः जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। सेनवंशी राजा ब्राह्मण थे—बड़े विद्वान् और बड़े विद्वत्प्रेमी। बल्लालसेन तन्त्रशास्त्र का अच्छा जानकार था। उसने तन्त्रशास्त्र के प्रचार के लिए मगध, उड़ीसा, नेपाल, भूटान आदि प्रान्तों में अनेक ब्राह्मण उपदेशक भेजे थे। सेनवंशी राजा बौद्धों के बड़े विरोधी थे। लक्ष्मणसेन के दरबार में पञ्चरत्न थे—जयदेव, गोवर्द्धन, धोयी, उमापतिधर और शरण। जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द के आरम्भ में इन सबकी बड़ी तारीफ की है। इधर आठवीं शताब्दी के अन्त में भगवान् श्रीशङ्कराचार्य उत्पन्न हो चुके थे, वैदिक धर्म फिर जोर से पनपने बढ़ने लगा था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सेनवंशी राजा बौद्धयुग की प्रतिक्रिया वे थे। शक्ति की तान्त्रिक उपासना के उस क्रूर-कठिन काल में, बालकृष्ण की बाँसुरी ढेरता हुआ जयदेव प्रकट हुआ था। यह शाक्तों की रक्तिम संध्या में जैसे शरत्काल का बालचन्द्र उदित हुआ था। उसकी (जयदेव की) अपनी ही मृदुल-मनोहर आराधना ने मानों राधा का नाम-रूप ग्रहण कर लिया था, त्रिभुवनमोहन की मोहिनी उस राधा का नाम-रूप जिसकी तनिक चर्चा भी महर्षि व्यास के भागवत-भर में नहीं।

इस नये नाम, नये काम, नये गान और नई तान में कुछ ऐसा छिपा जादू था कि जिसने भारत के इस छोर से उस छोर तक राधा-माधव के प्रेम-विरह की, भक्ति-शृङ्गार की एक अपूर्व रसधारा बहा दी। जिसने भी इसका दरस-परस, मज्जन-पान किया, अपने को धन्य माना, बेसुध-विभोर हो गया। इस नई धारा में सचमुच गजब का जादू था। इसका बहाव भारत ही भर में सीधा-तिरछा होकर नहीं रह गया। यह

एक सौ चौहत्तर

मधुर रसधार सात समुंदर की खारी जलधार पार करती हुई, सुदूर पश्चिम तक पहुँच गई; गेटे का भी प्रसन्न कर आई। यह भारतीय साहित्य की एक सांस्कृतिक मौलिक धारा थी।

कालिदास के बाद उन्नीसवीं शताब्दी से पहले के वर्षों को भारतीय साहित्य का मध्य-युग कहना चाहिए। रामायण-महाभारत के महान् आदर्श को सादर ग्रहण कर उस काल के कवियों ने बहुत रचनाएँ कीं, बहुत प्रकार के बौद्धिक तथा नैसर्गिक चमत्कार दिखलाये। कुछ फूले-फले, कुछ उगकर ही मुरझा गये। उस समय के काव्य-कुसुमोद्यान में जिसकी महक सबसे अधिक मीठी थी, जिसमें सबसे अधिक प्राणों का स्वाभाविक खिंचाव था—वह न तो माध था और न मुरारि ही; न भारवि था और न भवभूति; वह था जयदेव। इसमें इतने अधिक आकर्षण का प्रधान कारण था—इसकी सिर से पैर तक नवीनता, आमूल मौलिकता, अजीब अपनापन। इतना मधु, इतनी गन्ध थी इसके कोमल हृदय-किसलय में, अज्ञात-वेदना-विकल प्राणों में, इतनी रंगीनी, इतना सोना था इसकी गुलाबी उषा में, गुलालभरे प्रात में, कि इसे ललित-लताओं के बीच विहँसता मधु-माधव कहना अत्युक्ति-पूर्ण न होगा। इसके कमनीय काव्य के आदर्श कृष्ण भी कुमारकिशोर हैं, महाभारत के सूत्रधार नहीं। उन्हें क्रीड़ा-कौतुक, रास-विलास ही प्रिय है, 'रास' खींचना नहीं; उन्हें कदम्ब की डाल पर बैठकर बांसुरी बजाना पसन्द है, अर्जुन के रथ पर बैठकर पाञ्चजन्य बजाना नहीं। वह उसके गान से सुध-बुध खोकर उसी के पीछे-पीछे दौड़ते चलते हैं; उसे दिल-ही-दिल प्यार करते हैं।

राधा-माधव के प्रेम-साहित्य का यही से सूत्रपात हुआ। तब हिन्दी का अस्तित्व ही भर था; साहित्य नहीं। जब हुआ, राधा माधव के अतिरिक्त उसका दूसरा कोई विषय नहीं रहा। प्रेम-साहित्य के गगन में कृष्ण ही चन्द्र बना रहा। सत्रहवीं शताब्दी के लगभग के सूर आदि से लेकर अबतक के गीति-कवियों पर अव्यक्त रीति से जयदेव के गीतगोविन्द का प्रभाव है। सूर, मीरा, रवीन्द्र आदि की काव्य-वीणा में जयदेव के गीतों की झङ्कार भरनेवाले प्रकट तार तो दूसरे हैं—विद्यापति, चण्डीदास तथा अन्य जनपदीय कविगण। मेरा मतलब यह

नहीं कि हिन्दी के गीतिकारों ने गीतगोविन्द को नकल की। असल में तो, नकल में भी असलियत कुछ कम न थी, तभी विद्यापति आदि चल निकले। पर हिन्दी और बँगला के प्रथम महान् गीति-कवि—विद्यापति को जो 'अभेनव जयदेव' कहा गया और उनके गान जो सूर आदि की कृति-देह में प्राण बनकर समा गये, इसी के भीतर जयदेव का रहस्यमय लगाव है।

जयदेव से प्रायः ३०० वर्षों के बाद १५वीं शताब्दि में कवि विद्यापति ने मैथिली में जयदेव-शैली के मृदु-मनोहर पद लिखे। इनके काव्य-विषय भी वही रहे—राधा-माधव के प्रेम-विरह, सखा-दूती, ऋतु-वर्णन आदि। शैली में प्रान्तीय मुग्धता-मनोहारिता की मौलिकता रही। परन्तु मेरु-दण्ड जयदेव हाँ का रहा। भाषा और भावों के सँवारने का सुघरपन, कल्पना, चित्र, अलङ्कार, रस, ध्वनि—सब एक-से रहे। दोनों के भाव-पक्ष और कल्पना-पक्ष में समानता—बल्कि एकरसता रही। फिर भी जैसे जयदेव, वैसे ही विद्यापति भी मौलिक कहलायें। अवश्य विद्यापति में जयदेव से ज्यादा फैलाव यानी व्यापकता भी दिखी। इन्होंने समाज को भर-भरकर प्रेम के प्याले पिलाये। जिसे इनके काव्य का रस नहीं मिला, सचमुच वह अभागा है।

३

काव्य-कला की सबी परख के लिए न तो अँगरेजी-शैली का अन्ध अनुकरण ठीक होगा और न संस्कृत के अलङ्कार-शास्त्रों की आवृत्ति। कोरी भावुकता भी साथ न देगी; क्योंकि सुख की अनुभूति और सुख की अभिव्यक्ति—ये दोनों दो बातें हैं। पहली में आँखें मूँद लेनी पड़ती हैं; पर दूसरी में न केवल खोलनी, किन्तु दर्शकों की आँखें खुलबानी भी होती है। सस्ती भावुकता का पक्ष आलोचना के लायक इसीलिए नहीं होता।

एक समय एक जापानी तस्वीर और एक ईरानी खूबसूरती की तारीफें करते-करते जब मेरी आँखें गीली हो गई—मेरे साथी ढ़ड़ी सूखी हँसी हँसे। हँसी की वजह इतनी साफ थी कि बाद में मेरे होंठ भी बगैर रँगें नहीं रह सके। मेरे साथियों की चुस्त निगाह में भारतीय

एक सौ छिहत्तर

के अतिरिक्त अन्य लावण्य तिक्त ही हो सकता था। दृष्टि की ऐसी एकाङ्गिता कला की विवेचना के लिए कदापि उपयुक्त नहीं।

एक बात और। यों तो विश्वजनीन (Universal) कवियों की कृतियाँ चाहे जिस किसी दृष्टिकोण से परखी जायँ, कुछ-न-कुछ सुन्दर जँचेंगी ही। यदि ऐसी बात न हो तो उनका विश्वजनीन कहलाना वृथा। पर परम्बने का सच्चा तरीका तो वही होगा, जो कवि के निजी दृष्टिकोण के बहुत पास-पास होगा। नहीं तो सारी उल्ल-कूद रामायणी कथा-वाचकाँ के एक-एक चौपाई के सैकड़ों ऊल-जलूल मतलबों की तरह बेतरह निकम्मी निकलेगी। यदि शेक्सपियर के नाटकों की समीक्षा भरत मुनि के बताये नियमों के अनुसार हो तो वह जरूर ही दो कौड़ी के जँचेंगे। केवल इसलिए कि अपने उन विश्व-विश्रुत नाटकों की रचना शेक्सपियर ने न तो 'नाट्यशास्त्र' पढ़कर की थी और न इसकी जरूरत ही महसूस की थी। फलतः शेक्सपियर के नाटकों की खूबियाँ (कथानक मात्र की रोचकता नहीं) उसी की बारीक आँखों से देखी जानी चाहिए। रस्किन ने ऐसी दृष्टि के लिए बहुत जोर दिया है—मिल्टन के उद्धरण के द्वारा इसकी अच्छी व्याख्या भी की है। अस्तु।

जयदेव या विद्यापति ने जो कविताएँ लिखी हैं—वे आधुनिक प्रगतिशीलता, सुरुचि (!) आदि के परे हैं। उनमें शास्त्रीय कौशल की बहिर्मुखता है, बहुमुखता है। भीतरी स्तर में कवि का सरल हृदय है। हृदय सहृदयों द्वारा तुरन्त परख लिया जाता है, पर बाह्य-सौन्दर्य की सच्ची समझ के लिए शास्त्र-परिष्कृत दृष्टि की आवश्यकता होती है। यह बाहरी सौन्दर्य काव्यगत सत्य का आवरण नहीं, आभरण है। बाहर सौन्दर्य की प्रतिमा है, भीतर प्राण। इसलिए इनकी कला में जीवन है, जिन्दादिली है। कहना तो यों चाहिए कि एक ही जगह धूप-छाँह की आँखमिचौनी है। ऊपर शृङ्गार-सौन्दर्य की ललित नीलिमा और भीतर भक्ति का ज्योतिर्लोक। जो जितनी गहराई तक पैठेगा, वह उतना प्रकाश पा सकेगा। मुझे अमृत के ऊपर हलाहल का छलकता प्याला रख देने में बड़ा कौशल मातुल होता है। जैसे ऐरे-गैरे 'भोगी' मानव के बाँटे ऊपर विष और योगी के लिए 'अमृत' छिपाकर रक्खा गया हो ! जैसे रत्नगर्भा के रत्नों की रक्षा के लिए

ऊपर चिकने-चमकीले पत्थर और रंगीन मिट्टी का ढेर इकट्ठा कर दिया गया हो ।

जयदेव और विद्यापति का साहित्य सन्तों का साहित्य है, उसे असद् दृष्टि से देखना पाप होगा । कवि के भावों को हृदयङ्गम न कर, कुछ अपने छिड़ले-गहरे भावों का ठँस-ठाँस कर—कवि पर कीच उछालना, मेरे विचार से साहित्यिक पाप है ।

बंगाल और मिथिला की मद्य-मांस-मिश्रित संस्कृति की खाद से नये उगे, उसी (संस्कृति) की समुचित प्रतिक्रिया के बाल तमालतरु—जयदेव-विद्यापति के मर्म-मधुर प्रेम-संगीत को कुरुचिपूर्ण कहना कुरुचिपूर्ण नहीं कहला सकता । यही कारण है कि चैतन्यदेव विद्यापति के पद गाते समय सुन्न-बुध खो देते थे; पर व्यसनी रसिक उनसे पाप-पूर्ण प्रेरणाएँ ही पाते हैं, और आधुनिक कुछ सभ्य जन तो उनकी दुर्गन्ध से ऊबकर नाक पर रूमाल तक ढाल लेते हैं ।

४

मैं पहले लिख चुका हूँ कि कवि जयदेव की साधना-आराधना ही ने जैसे राधा का रूप धारण कर लिया था । इसलिए उसके काव्य में कवि का अपना कुछ भी नहीं, उसके हर्ष-शोक, उल्लास-उच्छवास सब सब दूसरे के—राधा के, कृष्ण के हैं । जैसे कवि की वाणी, यदि कृष्ण या राधारानी की वाणी नहीं, तो फिर उसका पृथक् कोई अस्तित्व ही नहीं । राधा-कृष्ण के लिए अपने अस्तित्व तक को खो देनेवाले इस कवि की कविता को चाहे कृष्ण का उल्लास कहें, चाहे राधा का उच्छवास—और कवि-सम्बन्धी कुछ नहीं कह सकते । कदम्ब की छाँह में खड़े मुरलीमनोहर की मनोहर मुरली की तान, उसी के तने पर बैठी कायल की कूक, वृन्दावन की कुञ्जगली में मुग्ध-मूर्च्छित गोपबालाओं की लम्बाँ उसाँस जैसे जयदेव की साँस—गीत-गोविन्द के रूप में परिवर्तित हो गई है । पर विद्यापति की पदावली में इससे और ज्यादा दर्द, और ज्यादा गहराई है । कम-से-कम विद्यापति के विरह का बादल तो विश्व के शत-शत विरही नर-नारियों के आँसुओं का पुखीभूत रूप है, जब कि गीत-गोविन्द में वह महज राधा-माधव के प्रेम-शृङ्गार का उद्दीपनमात्र है ।

एक सौ अठहत्तर

पपीहे के सुर में जो दिल का दर्द है, कोयल की कूक में जो कलेजे की हूक है, वही उसके स्वर की माधुरी है।

Our sweetest songs are those
that tell of saddest thought.

यह ऐसी माधुरी ही उसे शत-शत-शुक-सारिकाओं, राशि-राशि मयूर-हारीतों से ऊपर उठाये हुए है। फलतः जिस कवि के मानस में जितना ही गहरा विरह-करुणा का निर्मल जल होगा, उसमें उतनी ही अधिक माधुरी, उतनी ही अधिक शीतलता भी होगी। काव्य में अनुप्रास और यमक की मधुरता—व्याह में शहनाई की मधुरता है, और भाव की—कवि के चिर-विरही प्राणों के उद्गार की मधुरता—अनहद नाद की मधुरता है। शहनाई बच्चों की खुशी के लिए, विवाह-विज्ञापन के लिए बजाई जाती है, अनहद ध्वनि एकचित्त योगी सुनता है। काव्य के श्रोता बच्चे (अर्थ में), योगी—सब हो सकते हैं, होते हैं। दोनों ध्वनियों की खपत भी इसीलिए दो श्रेणियों में हमेशा से होती आई है, और वह ठीक भी है।

कहने का मतलब यह कि विद्यापति में जयदेव से अधिक गम्भीर विरह है, फिर भी वह चण्डीदास की तरह अतलस्पर्शी नहीं। चण्डीदास के दुःख-दर्द ने तो उन्हें 'दुःख का कवि' बना दिया है। सम्भव है, भौतिक जीवन के अनुभूत प्रेम-विरह ने, उनके कवि-हृदय के चिरन्तन प्रेम-विरह को इतना तीव्र, इतना मार्मिक बना दिया हो! विद्यापति मिलन में अधिक-से-अधिक तृप्ति, सुख और विरह में अधिक-से-अधिक दुःख का अनुभव करते हैं। इनकी विरहिणी राधा कहती है—

‘सखि हे हमर दुखक नहि ओर,
ई भर बादर, माह भादर
सून मन्दिर मोर !’

आह सखि ! मेरे दुःख की तो कहीं सीमा नहीं, कोई ओर-छोर नहीं। यह भादों का हरा-भरा महीना, आसमान में बादल भरे हुए, पर मेरा घर आज भी सूना है !

प्राच्यसाहित्य

चिर-शून्य आकाश में भरा हुआ मेघ-मण्डल और भरी आँखों से अपने सौभाग्य-मन्दिर का सूनापन देखने में विरह-दुःख किस कोटि तक पहुँच गया है !

इसी प्रकार मिलन-मुहूर्त्त में उनके सुख-सुहाग की असीमता देखने को मिलती है। श्रीकृष्ण राधा के श्रीसदन में पधारे हुए हैं, अब इस आनन्द को वह किस प्रकार छिपा सकती है ? 'भगन' होकर जोर-जोर से गाने लगती हैं—

‘आजु रजनि हम भागे पोहाइनु
पेखनु पिया-मुख चन्दा;
जीवन यौवन सफल करि माननु
दस दिश मेल निरदन्दा ।
आजु मझु गोह गोह करि माननु
आजु मझु देह भेल देह;
आजु बिधि मोहे अनुकूल होयल
दुटल सबहुँ सन्देहा ।’

आज की रात की बात कैसे बताऊँ ? इस सुख का, इस खुशी का भी कोई ठिकाना है ? अरी, आज मैंने प्रियतम का चाँद-सा चमकता मुख देखा। आज ही मैंने इस नारी-जीवन को, नवयौवन को सकल समझा, धन्य माना। अब क्या ? दसों दिशाएँ निर्वन्द्व हो गई—सब ओर मेरी ही खुशी जैसे लहरें लेने लगीं। आज ही मुझे घर, घर की तरह मालूम हुआ, और यह शरीर शरीर की तरह। भाग्य आज ही मुझे अनुकूल दीख पड़ा, और अब तो मेरे मन में किसी भी संशय-सन्देह की गुंजायश नहीं।

यह गाते-गाते वह बेसुध-विभोर हो जाती हैं और कल तक विरह की हालत में बेरहमी से सतानेवाले चाँद, कोयल, स्मर—सबको पगली-सी ललकारती हैं—

‘सोइ कोकिल अब लाख डाकउ
लाख उदय करु चंदा
पाँच बाय्य अब लाख बाय्य हउ
मलय पवन बहु मंदा

एक सौ अस्सी

अब सो न यवहुँ मोहे परिहोरत
तवहुँ मानव निज देहा'

अरी बावली कोयल ? कूक, अब कूक न, जोर-जोर से । और चाँद !—तू चाँदनी बरसा अब, आबमान में इठला रात-रातभर । मुझे तेरी कुछ परवा भी है भला ? हाँ, विरह-विकल अबल-अबलाओं को निठुरता से सतानेवाले पञ्चशर भगवान् ! अब आप धनुष-तूणीर नटाएँ, पाँच ही क्यों, लाख-लाख तीर छोड़ें एक साथ ! आज तो प्रियतम मेरे पास हैं, और वह जब तक मुझे छोड़कर नहीं जाते, तभी तक तो मैं हूँ !

दुःख-सुख में, दुःख-सुख की यह ऐसी अतिशयता चण्डीदास के लिए सम्भव नहीं । उन्हें तो मिलन में भी बहुत सुख नहीं मिलता; कृष्ण की बाँसुरी के मधुर सुर में भी अमृत और विष की समान मात्रा मालूम पड़ती है । हाँ, इस प्रकार की दुःख-कातरता में, आकुलता-विकलता में वे किसी किस्म की बेबसी नहीं महसूस करते । बल्कि, दुर्दिन की सुनसान आधी रात में आँसुओं की बूँदाबूँदी के बीच उनका प्राण-परीहा गा उठता है—

‘यार यत ज्वाला
तार ततई पिरीति’

जिसमें जितनी (अधिक) ज्वाला है, उसमें उतना ही (अधिक) प्रेम भी है । वस्तुतः चण्डीदास के प्रेम से पिघले हुए दिल में सुख-दुःख की पृथक्-पृथक् अनुभूति ही नहीं होती । वह कहते हैं—सुख-दुःख दोनों सगे हैं ; जो सुख के लिए प्रेम करता है, उसके पास दुःख कैसे न जाय ?

‘कहे चण्डीदास सुन विनोदिनी
सुख - दुख दुटि भाइ ;
सुखेर लागिआ ये करे पिरीति
दुख याय तार छँइ ।’

मिलन में भी विरह की यह परम अनुभूति हुई । इस प्रकार देखा जाता है कि चण्डीदास और विद्यापति में, प्रेम-विरह के चित्रों में जहाँ

प्राच्यसाहित्य

रूप-रेखाओं की बारीकी के साथ-साथ रंगों की गहराई है, वहाँ जयदेव में अधिकांश रेखा-चित्र, पेंसिल-स्केच ही हैं।

‘निन्दति चन्दनमिन्दुकिरण-

मनुविन्दति खेदमधीरम् ;

व्याल निलय मिलनेन गरलमिव

कलयति मलयसमीरम् ।’

अर्थात् वह (राधा) चन्दन और चाँदनी की (दाहकारी अनुभव करने के कारण) निन्दा करती हैं और अधिकतर खिन्न रहती हैं। मलय-समीर के विषय में उन्हें मालूम पड़ता है कि चन्दनतरु में लिपटे हुए साँपों की विषभरी साँस ही बहकर आती है, तभी तो उसके स्पर्शमात्र से उनके अंग-अंग झुलसे जाते हैं !

या

‘ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम् ;

विलपति, हसति, विषीदति, रोदति, चञ्चति, मुञ्चति तापम् ।’

वैसे प्रकट रूप से आपका पाना असंभव जान, ध्यान की एकतानता के द्वारा वह सामने आपकी प्रतिमा की कल्पना कर उसी के आगे कभी विलाप करती हैं, कभी हँसती हैं, कभी रोती हैं और कभी (मिलन की आकुल तन्मयता के कारण) कुछ दग जागे बढ़ जाती हैं और (मिलन-मुख प्राप्त कर ही जैसे सन्तोष-शान्ति का अनुभव करने लगी हों—) क्षणभर शान्त हो जाती हैं।

इसमें न तो विरह की गरिमा है और न—

‘राधावदनविलोकनविकसितविविधविकारविभङ्गम्

जलनिधिःमिव विधुमण्डलदशन-तरलिततुङ्गतरङ्गम्,

हरिमेकरसं चिरमभिलषितविलासम्

सा ददर्श गुरुहर्षवशंवदवदनमनङ्गनिवासम्’

में मिलन-मुख की अत्यधिक तृप्ति। कवि कहता है—चन्द्रमण्डल देखकर जैसे समुद्र लहराने लगता है, राधा ने देखा, उसके मुख-चन्द्र को देखते ही कृष्ण भी हर्ष के विभिन्न विकारों को छिपा न सके। जैसे बहुत दिनों से राधा-विषयक विलासों की अभिलाषा में हों—उनके मुख पर प्रसन्नता की रेखाएँ इसी प्रकार स्पष्ट हो गईं; काम के अलस भाव

एक सौ बयासी

इसी प्रकार अंकित हो गये !' विद्यापति की तुलना में यह कितनी हल्की तूलिका है !

फिर भी किशोर कृष्ण के काव्य में कैसे उनकी माखन-मिश्री की मिठास मिल सकती है, यह गीतगोविन्द गाकर ही अनुभव किया जा सकता है। वैष्णव जयदेव ने जो स्थिर आनन्द को अपनाया, तीव्र दुःख को, चिर-विरह को बहुत महत्त्व नहीं दिया—यह कुछ बुरा नहीं, जब कि अपने एक-रस, समरस, सुख-प्रवाह को वह बराबर कायम रख सकने में कामयाब हुए।

ऐतिहासिक दृष्टि से विद्यापति शैव थे, पर उनके पद वैष्णव हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि शैव होकर भी वह वैष्णवधर्म को बुरा नहीं मानते थे, बल्कि हरि-हर में उन्हें भेद ही नहीं भासित होता था। उन्होंने लिखा है—

‘भल हर भल हरि भल तुअ कला
खन पितबसन खनहि बघछला
खन पंचानन खन भुज चारि
खन संकर खन देव मुरारि
खन गोकुल गये चराइअ गाय
खन भिखि मँगिये डमरु बजाय



भनइ विद्यापति विपरित-बानि
ओ नारायण ओ सुखपानि !'

जो कुछ हो, उनके पद राधाकृष्ण-सम्बन्धी ही अधिक हैं। और उनमें सिर्फ बाहरी साज-सँवार भर नहीं, प्राणों की अनुभूति भी है। अवश्य ही जयदेव और विद्यापति—दोनों का कलापक्ष प्रबल है, जब कि चण्डीदास में केवल अनुभूति, केवल हास-अश्रु हैं।

जयदेव और विद्यापति के पदों का प्रचार, बंगाल-बिहार में, गुण्डों से लेकर सन्तों तक, भोपड़ियों से महलों तक, कुल-कामिनियों से लेकर वारवनिताओं तक में है। अच्छी-अच्छी तवायफें महफिलों में अक्सर

प्राच्यसाहित्य

गीतगोविन्द गाती हैं। जयदेव बंगाल के तो थे ही, इधर, दक्षिण-बिहार में, ब्याह-शादी के मौकों पर कुलललनाएँ कोकिलकंठ से जयदेव ही के पद गाती हैं, बरातियों के खाते वक्त भी गीतगोविन्द ही गाया जाता है। मिथिला में धान रोपते वक्त मजदूरों भी विद्यापति के पद गाती हैं। ब्याह-गौना, महफिल-मजलिस, मन्दिर-मठ आदि की तो बात ही न्यायी है। और बंगाल में ? वहाँ विद्यापति के पदों के प्रचार-प्रसार के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'बंगला-कविता का पिता' वह एक बंगाली ही आलोचक के द्वारा घोषित किये गये हैं। श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त ने लिखा है—

'Even the preservation of the beautiful poems of Vidyapati is due to the accident that they were taken to Bengal by Bengali students in Mithila and were extensively admired by the Vaishnavas of Bengal. Vidyapati along with Chandidas is still regarded as the father of Bengali poetry.'

इस ऐसी लोकप्रियता ही के भीतर इनके काव्य की खूबियाँ मौजूद हैं। पर इसके यह मानी नहीं कि ये ग्राम-गीतों के कवि हैं और इनका इतना अधिक प्रचार, भाषा-भाव की ग्रामीण सरलता के सबब हुआ। ये दोनों ही उच्चकोटि के काव्य-कलाकार हैं, आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर इनके कला-कौशल का सम्यक ज्ञान होता है, रस तथा सौन्दर्य का बोध होता है, अलङ्कारों-कल्पनाओं का अकल्पित आनन्द आता है, ध्वनि-व्यंग्यों की विचित्रता मालूम होती है।

कल्पना

शेक्सपियर, शेली आदि विश्वकवियों ने कल्पना को काव्य-कला की सर्वश्रेष्ठ विभूति बतलाया है। जयदेव और विद्यापति—दोनों ही में ललित कल्पनाओं के उत्तम-उत्तम उदाहरण हैं।

कृष्ण के बड़े भाई बलदेव के स्वर्ण-वर्ण शरीर में शोभायमान श्यामल वसन पर कवि कल्पना करता है—जैसे हल के (प्रहार के) ढर से (हल ही उनका प्रिय अस्त्र है) स्वयं यमुना आकर उनकी दीप्त

एक सौ चौरासी

जयदेव और विद्यापति

देह में सटी-चिपकी हों ! कहते हैं, बलदेव ने यमुना को प्यार करना चाहा था; पर वह भग गई थी—

‘वहसि वषुषि विशदे वसनं जलदाभम् —

हल-हति-भीति-मिलित यमुनाभम् ,

केशव धत-हलधर-रूप

जय जगदीश हरे !’

जयदेव

दूसरी-दूसरी सखियों को चूमते-पुचकारते देख राधा दिल ही दिल जल-भुनकर चली गई । कृष्ण भी अपराधी होने के कारण उस समय उन्हें न रोक सके । फिर अकेले बैठे-बैठे उनके उस घड़ी के चेहरे की याद कर आहें भर रहे हैं—वह कितना तमतमा रठा था ! और गुम्से के सबब भवें कैसी बाँकी-बाँकी दिखती थीं ! मालूम पड़ता था, मानों खिले हुए लाल कमल के ऊपर भौरा मँडला रहा हो, और वह कमल भी चपल-चञ्चल हो गया हो, उसी भौरे की वजह से ! कैसी मीठी कल्पना है चिन्तन-अनुभूति के साथ-साथ !

‘चिन्तयामि तदाननं कुटिलभ्रु रोषभरेण ;

शोणपद्ममिवोपरि भ्रमताऽऽकुलं भ्रमरेण ।’

— जयदेव

कृष्ण के विरह में, शरीर की जलन मिटाने के लिए राधा फूलों की सेज पर सोई हुई हैं । कवि कहता है—वह सुन्दर सुकुमार कुसुमों की नहीं, पुष्पबाण के तीक्ष्ण बाणों की शय्या है । और राधा उस ‘शरशय्या’ पर पड़कर जैसे कठिन व्रतसाधना कर रही हैं, जिसका कोमल फल होगा कृष्ण का अलिङ्गन-सुख प्राप्त करना ।

‘कुसुमविशिखशरतल्पमनरूपविलासकलाकमनीयम् ;

व्रतमिव तव परिरम्भसुखाय करोति कुसुमशयनीयम् ।’

— जयदेव

विद्यापति की कल्पनाएँ जयदेव से ज्यादा लच्छेदार हैं । जयदेव में वे अनुभूति के साथ-साथ घुल-मिल गई हैं और केवल इसी दृष्टि

एक सौ पचासी

प्राच्यसाहित्य

से देखने पर स्वाभाविक भी अधिक मालूम पड़ती हैं। सच तो यह कि सुख में 'अति तृप्ति', विरह में 'अति वेदना' की तरह कल्पना में भी विद्यापति ने 'अति' को नहीं छोड़ा है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'अति सुन्दर' नहीं है।

‘कुच जुग परसि बिकुर फुजि पसरल ता अरुमायल हारा,
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद बिहिन सब तारा !’

— विद्यापति

कुच कलशों को छूती हुई श्यामल, सघन केशराशि खुलकर फैली हुई है। जिससे छाती पर भूलनेवाला हीरे का हार चलभ गया है। कवि का वह छवि देखकर ऐसा मालूम पड़ता है, मानो सुमेरु पर्वत पर चाँद को छोड़ (बालों के सबब, क्योंकि चाँद की मौजूदगी में अँधेरे की हस्ती मिट जाती है) सभी तारे साथ मिलकर उगे हों !

महाकवि निराला ने अपनी 'राम की शक्तिपूजा' नामक सुप्रसिद्ध कविता में राम के फैले बालों पर कुछ ऐसी ही कल्पना की है—

‘इद जगमुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा दुर्गम पर्वत पर ज्यों नैशान्धकार,
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार !’

वयःसन्धि के समय राश्री की एक पतली-सी रेखा नाभि से छाती तक उग आती है। उसकी तसवीर कवि की निगाह में यों उतरती है— नाभि के बिल से निकलकर रोम-रेखा की नागिन, सुन्दरी की सुरभित साँस पाने की ख्वाहिश से जैसे, ऊपर चढ़ी, पर उसकी नुकीली नाक को गरुड़ की चोंच समझ कर, डर से झटपट दोनों पयोधर-पर्वतों के मध्य के मिलन-स्थान में, सँकरी जगह देखकर छुप गई।

‘नाभि-विवर सयँ लोम-लतावलि
भुजगि निवास-पियासा,
नासा - खगपति - चंचु-भरम - भय
कुच - गिरि - सन्धि - निवासा ।’

— विद्यापति

एक सौ छियासी

जयदेव और विद्यापति

रूपसी नहा कर निकली है, गीले बालों से और आँचल से पानी की बूँदे टपक रही हैं। इस पर कवि ने तीन गीतों में तीन तरह की कल्पनाएँ की हैं। अवश्य तीनों एक दूसरी से बढ़कर हैं। पहली है—

‘चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा !’

बालों से जल-बिन्दु क्या टपक रहे हैं—मुखरूपी चन्द्रमा के डर से तम रो रहा है ! दूसरी है—

‘चिकुर गरए जलधारा
मेह भरिस जनु मोतिन हारा !’

यानी बालों से जलधार नहीं, बादलों से मुक्ता-हार बरस रहा है। और तीसरी में तो गजब ही ढा दिया है। यहाँ बाल से नहीं, कपड़े के छोर से, आँचल से पानी की बूँदे छहर रही हैं। कवि कहता है—स्तना से चिपका हुआ सरस वसन सोच में पड़ा हुआ है कि यह बेरहम अब जल्द ही मुझे छोड़कर दूसरा सूखा कपड़ा पहन लेगी। इसे ता. बहुत-से सूखे कपड़े मिल जायेंगे, पर हाय ! ऐसा रस मुझे कहाँ मिलेगा, जैसे इसीलिए वह फूट-फूटकर रो रहा है।

‘ओ नुकि करतहि चाहि किये देहा
अबाह छोदब मोहि तेजब नेहा
ऐसन रस नहि पाओब आरा
इथे लगि रोइ गरए जलधारा !’

— विद्यापति

ये तो हुए कल्पनाओं के चन्द नमूने। इनके अलावा इन्होंने सौंदर्य के अनेक सादे-रंगीन चित्र प्रस्तुत किये हैं। कहीं अजन्ता का आर्ट है तो कहीं राजपूत-स्कूल का। कहीं मुगल-काल की भाँकी है तो कहीं टैगोर-स्कूल की। कहीं वयस्सन्धि की तसवीर है, कहीं सद्यःस्नाता की। कहीं विरहिणी राधा अङ्कित हैं, कहीं मानी कृष्ण। चित्र में संगीत का इतने आकर्षक रूप से निवेश काव्य-कला का श्रेष्ठ निर्देश है। मालूम पड़ता है, विद्यापति की पूरी पदावली या जयदेव का सारा गीतगोविन्द ही सङ्गीतमय चित्र या चित्रमय सङ्गीत है।

एक सौ सत्तासी

प्राच्यसाहित्य

पृथक्-पृथक् उदाहरण देना निरर्थक नहीं तो अनावश्यक अवश्य होगा।

इनके अतिसुन्दर, सुकुमार भावों को, अतिकोमल, निर्मल भाषा में प्रयुक्त देख बड़ी खुशी होती है—जैसे हीरे, मोती, पुखराज के जड़ाऊ गहनों को सोने के सन्दूक में सजा कर रक्खा गया हो। कालिदास में भाव-संगीत जितना प्रबल है, उतना शब्द-संगीत नहीं।

‘आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमारिजिह्वसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ।’

— कालिदास

और

‘मेघैर्मेढुरमम्बरं वनसुवः श्यामास्तमालद्रुमैः

— जयदेव

इसका अन्तर सहज ही बोधगम्य है। भवभूति के अनुप्रास डी० एल० राय को ढेंकी कूटने के शब्द-जैसे मालूम पड़ते थे। माघ, मुरारि आदि में बनावटीपन ज्यादा बोलता है, शब्द कम। ‘नैषधे पदलालित्यम्’ के रचयिता के अतिरिक्त बहुत कम संगीतज्ञों को नैषध में पद-लालित्य मिलेगा, बबूल के काँटे चबा डालनेवाले ऊँटों की बात मैं नहीं करता। इसीलिए मैं पहले लिख चुका हूँ कि जयदेव ही ने पहले-पहल शब्द, अर्थ, चित्र-सब में, सब जगह संगीत की प्रतिष्ठा की है। शृंगार को भक्तिमय की तरह, साहित्य को भी संगीतमय कर दिया है। विद्यापति जयदेव की खूबियों से दूर नहीं हैं।

उदाहरण—

‘उन्मद-मदन मनोरथ-पथिक

वधू-जन जनित-विलापे,

अलि-कुल संकुल-कुसुम-समूह-

निराकुल-वकुल-कलापे ।’

‘विपुल-पुलक भुज-पल्लव-वलयित

वल्लव-युवति-सहस्रम् ।’

‘मुखर-मधोरं त्यज मञ्जीरं

रिपुमिव केलिषु लोलम् ,

एक सौ अठ्ठासी

जयदेव और विद्यापति

चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं
शीलय नीलनिचोलम् ।'

— जयदेव

'नयन-नलिनि दशो अंजन रंजइ
भौह विभंग - विलासा,
चकित चकोर जोर विधि बाँधल
केवल काजर - पासा ।
गिरिवर - गरुश्र पयोधर - परसित
गिम गज - मोति क हारा,
काम कम्बु भरि कनक सम्भु परि
ढारत सुरसरि - धारा ।'

— विद्यापति

भाषा के इस लहराते हुए धानी-रंग के आँचल से कविता की भावमयी नारी मूर्ति मावन की वन-सुषमा-सी सुन्दर, सुकुमार हो गई है। Analysis करना, पंखड़ियों को तोड़-नोचकर गुलाब के सौन्दर्य को पास से समझना-देखना होगा।

अनुभूति

कविता में अनुभूति का महान स्थान है। जैगे कुछ लोग संगीतमय चित्र को, कल्पना को, काव्य में सबसे अधिक महत्त्व देते हैं, उसी प्रकार कुछ लोग अनुभूति ही को सर्वश्रेष्ठ विभूति मानते हैं। अवश्य मैं दोनों के सुन्दर सामञ्जस्य को सबसे अधिक महत्त्वमय समझता हूँ, परन्तु भी कल्पना से अनुभूति को उच्च स्थान देने में किसी को कोई आग्रह नहीं। विद्यापति की एक अनुभूति देखिए।

महाकावि माघ ने सौंदर्य पर अपना दृष्टिकोण यों व्यक्त किया है—

'बणे बणे यशवतामुपैति
तदेव रूपं रमणीयतायाः !'

यानी सौंदर्य उसे कहते हैं जो क्षण-क्षण में नूतन-नवीन मालूम पड़े। इस नन्हे से प्याले में माघ ने अपने हृदय का सारा मधु

एक सौ नवार्सा

प्राच्यसाहित्य

ढाल दिया है। मधु वैसा नहीं कि जिसे सूँघते ही ढेर हो जाना पड़े, पीनेवाला नाले में बेहोश पड़ा रहे, बल्कि वैसा, जो भूल-भटके हुए दिमाग को ठीक-ठीक होश में ला दे ! मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि लोग कमसिनो-हसीनो की जिस 'मार डालनेवाली' खूबसूरती पर आँधे मुँह हो जाते हैं। जो षोडशी के स्नो-पाउडर-पुते गुलाबी गालों का गीला सौंदर्य है, वह क्षण-क्षण में नया नहीं, उतरता हुआ मादुम पड़ता है। और कुछ दिनों बाद, शहद निचोड़ लेने पर 'मधुमक्खी का छत्ता'—महज कीड़ों का उजड़ा हुआ घर नजर आता है। 'खूबसूरती' पर 'मरनेवाले' ऐसे ही भ्रमर-वृत्ति, कामुक, बेहोश दिमाग को होश में लाता हुआ माघ कहता है—

‘क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति

तदेव रूपं रमणीयतायाः !’

फिर माघ के कहने का मतलब क्या हो सकता है ? यही कि संसार दो है, बाहरी और भीतरी। देखा हुआ और अपना बनाया हुआ। 'बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे'—वाला बाहरी संसार आँखों से देखा-दिखाया जा सकता है, भीतरी संसार को देखने के लिए मानसचक्षु, अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होगी। षोडशी के जिस नाज-नखरे पर मुग्ध हुआ गया और फिर उसे ठुकरा दिया गया, निश्चय ही उस सौंदर्य को सिर्फ चलती आँखों से देखा गया था, प्राणों में अङ्कित नहीं किया गया था, तभी तो उसे बदलते, मिटते देर न लगी। पर वही जब भीतर, हृदय में आकर अपना बन जाता है तो उसे देखते हुए कभी तृप्ति नहीं होती। निश्चय ही तब वह अङ्गयष्टि का सौंदर्य नहीं, प्राणों का रहता है। जो प्राणों के मिटने से पहले मिट ही नहीं सकता। वहाँ प्रेम रहता है, मोह नहीं, वासना नहीं। वहाँ अतृप्त तृप्ति रहती है, तृप्त अतृप्ति नहीं। 'तृप्ति' इसलिए कि उसे देखकर फिर कुछ देखने की इच्छा नहीं रह जाती, (जिन आँखिन में वह रूप बस्यौ, तिन आँखिन ते पुनि देखिबे क्या ?) और 'अतृप्त' इसलिए कि उसे देखते हुए कभी मन ऊबता नहीं। विद्यापति इसी विषय की अपनी अनुभूति बताते हैं, उदाहरण नहीं देते, व्याख्या भी नहीं करते, केवल अनुभूति बताते हैं।

एक सौ नब्बे

जयदेव और विद्यापति

‘सखि कि पुछसि अनुभव मोष ?
 सेहो पिरित अनुराग बखानइल
 तिले-तिले नूतन होय ।
 जनम अवधि हम रूप निहारल
 नयन न तिरपित भेल,
 सेहो मधु बोल सवनहि सुनल
 झुति पथे परस न गेल ।
 कत मधु-जामिनि रभस गमाओल
 न बुझल कैसन केल
 लाख लाख जुग हिय हिय राखल
 तइयो हिय जुषन न गेल ।’

और सब के बाद यह जोर देकर कहते हैं कि रसिक लोग रस का उपभोग करते हैं, रस की अनुभूति नहीं प्राप्त करते—

‘कत बिदागधजन रस अनुभोदई
 अनुभव काहु न पेख ।’

अनुभव करके नहीं देखते, यदि देख पाते तो उन्हें मालूम होता कि—

‘विद्यापति कह प्रान जुड़ाएत
 लाखेउ न मिलल एक ।’

यही विद्यापति का चिर-विरह है। यही विद्यापति की फिलासफी है, सन्देश है। पदावलीमात्र का यही अर्थ है। ‘विद्यापति’ फिल्म में ‘अनुराधा’ के द्वारा इसी की अवतारणा की गई है।

अनुभूति पर एक अपनी अनुभूति भी। बहुत पहले, जब १६-१७ साल का था, गीतगोविन्द-शैली के कुछ पद बनाये थे। छपने से पहले तक वह मुझे अच्छे ही नहीं, बहुत अच्छे लगते थे। नमूने के लिए एक श्लोक और चार पंक्तिया पेश करता हूँ—

‘कुसुमास्तरणनिषयणां सततविषयणां
 विभाव्य राधास्ताम् ;
 अनुगोविन्दमधीरं धीरस्मितमाह
 गोपिका काचित् ।’

×

×

×

एक सौ इकानबे

बाल-कुरंगापांग-तरंगायासित-शम्भा-कम्पा
सीदति पुण्ये वृन्दारण्ये सा, क्रियतामनुकम्पा ।

× × ×

कोकिल-कललापेक्षित-नृत्यन्मन्त्रु मञ्जरी-पुञ्जम्
पुञ्जचक्षुरचञ्चरीक-सञ्जय-सञ्चारित-कुञ्जम् ।

—काकली

पर अब उनसे मुझे तृप्ति नहीं होती। जब-जब देखता हूँ, कुछ कमी महसूस करने लगता हूँ—जैसे जयदेव का ढाँचा भर मैं पहचान सका होऊँ, और तत्त्व को अपनाना तो दूर, समझा भी न होऊँ। यही सही बात है। कहने का मतलब यह कि जयदेव में केवल कोमल-कान्त-पदावली ही नहीं, एक और सर्वोपरि विशेषता भी है, जिसे अपनी अनुभूति, या स्पष्ट शब्दों में राधाकृष्ण के साथ तन्मयता कह सकते हैं, इधर जिसका नामोनिशान तक नहीं। उन्होंने स्वयं लिखा है—

यद् गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानञ्च यद्वैष्णवं

यत् शृङ्गारविवेकतत्त्वचरणा काव्येषु लीलायितम् ।

तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः 'कृष्णैकतानात्मनः

सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ॥'

इस प्रकार जयदेव की सारी कला जैसे 'कृष्णैकतानात्मनः' के द्वारा स्पष्ट कर दी गई। यानी जहाँ कृष्ण के साथ एक-तानता नहीं, वहाँ कोई जयदेव की छाया भी नहीं छू सकता। विद्यापति के विषय में भी ऐसा ही कहना चाहिए। इन कवियों के अध्ययन के अवसर पर बाहरी-भीतरी साहित्यिक बारीकियों के अलावा 'और कुछ' का अधिक अनुभव होता है। और वह 'और कुछ' ही कवि का 'सब कुछ' है। आलोचक कला की चहारदीवारी तक पहुँचकर खीसें निपोर लेता है—और कवि अपना जगह से पुकार कर कहता है—'हूँ दूर, सदा मैं दूर' यानी तुम्हारी आलोचना से आगे, बहुत आगे—पहुँच से बाहर। बाहर इसलिए कि उसकी कला का विश्लेषण किया जाता है, उसका नहीं; उसके शृंगार की आलोचना होती है, भक्ति की नहीं। सच तो यह कि उसका—उसके राधा-कृष्ण का विश्लेषण किया ही नहीं जा सकता। और इसी लिए आलोचना अधूरी-की-अधूरी रह जाती है।

एक सौ बानबे

६

जयदेव और विद्यापति में आलोचक को बुरी तरह खटकनेवाली अश्लीलता मिलेगी। संस्कृत और ब्रजभाषा के लिए यह कोई नया दांप नहीं है। एक बार स्वस्थ चित्त से विचार करते-करते मैं इस नतीजे पर पहुँचा था कि संस्कृत में व्यास-वाल्मीकि से लेकर अब तक के किसी भी कवि की कृति इस लायक नहीं कि उसे निःसंकोच रूप से बेटी-बहन या मा-बच्चे को पढ़ाया जा सके। फिर जयदेव ने तो 'यदि विलास-कलासु कुतूहलम्' से शुरू ही किया है। हाँ, यह बात जरूर है कि भाषा या भाव के बहाव के सबब, सुन्दर सौन्दर्य-सृष्टि के कारण, साधारणतया अश्लीलता पर आँखें अटक नहीं पातीं।

‘रिक्तप्यति कामपि, चुम्बति कामपि
कामपि रमयति रामाम्,
पश्यति सस्मितचारुतरा-
मपरामनुगच्छति वामाम् ।’

या

‘उरसि मुरारेरूपहितहारे
वन इव तरलवलाके,
तडिदिव पीते रति-विपरीते
राजसि सुकृतविषाके ।’

यहाँ आलिंगन, चुम्बन, रमण या विपरीत-रति की अश्लीलता बीभत्स नहीं है। सच तो यह कि शृंगार रस का ‘क-ख’, संस्कृत और ब्रजभाषा में, यहीं से शुरू होता है। भाषा और भाव की रेशमी सारी ने कविता में नम्रता नहीं आने दी है। पर जयदेव या विद्यापति यहीं से नहीं लौट जाते, वह तो राधिका की चुनरी खुलवा देते हैं, ग्यारह-बारह की बालिका से कृष्ण की छेड़खानी का हवाला बेफाँस गले से देने लगते हैं—

‘विषटल नीबी कर धर जाँति
अँकुरल मदन, धरए कत भौँति

×

×

×

कुच-कोरक तव कर गहि खेच
कोँच बदरि अरुणिम रुचि भेज'

— विद्यापति

या

'विगलितवसनं, परिहृतरशनं.
षटय जघनमपिधानम् ।
किसलयशयने, पङ्कजनयने,
निधिमिव हर्षनिदानम् ।'

— जयदेव

इसे नम्रता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? यों कुछ नहीं, पर एक बात है, जिससे इस शङ्का का सम्यक् समाधान हो सकता है । कवि का दृष्टिकोण या काव्य-कला की पूर्ण परिणति देख चुकने पर उलम्बन सुलम्ब सकती है । दो-दो पंक्तियों के उद्धरण के द्वारा कला का एकांगी परिचय मिलता है, पूर्ण नहीं । कवि के निजी दृष्टिकोण का मैं प्रायः परिचय दे चुका हूँ । कविता की गति भी भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर है । भाव का प्रवाह भी शृंगार से भक्ति की तरफ, काव्य से दर्शन की ओर है । इसलिए प्रति-पंक्ति पर पृथक् पृथक् निणय देना कवि और कविता, दोनों के प्रति अश्रम्य अपराध होगा ।

ऐतिहासिक अन्वेषण हमें इस निर्णय पर पहुँचाता है कि तन्त्र-शास्त्र की सकाम साधना और सौंदर्योपासना से वैष्णवों की भक्ति-गीति पर शृंगार-सौन्दर्य की छाप पड़ी है ।

'गतासूनां बाहुप्रकरकृतकाञ्चीपरिलस-
जितम्बां दिग्बस्त्रां, त्रिभुवनविधात्रीं, त्रिनयनाम् ।
रमशानस्थे तल्पे, शवहृदि महाकालसुरत-
प्रसक्तां त्वां ध्यायन् जननि जहचेता अपि कविः ॥'

— कपूरस्तव

'नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नमंसु जदम्
तवापांगालोके पतितमनुभावन्ति शतशः ।
गलद्वेयीबन्धाः कुचकलसविजस्तसिचया
हठात् शुक्लकाम्प्यो विगलितदुकृशा युवतयः ॥'

— सौन्दर्यलहरी

‘रुद्रयामल’ में ध्यान के जैसे-जैसे रूप बनाये गये हैं, इनकी सारी अश्लीलता दूर हो जाती है तन्त्र-शास्त्र के अनुरूप अर्थ निकालने पर। इस प्रकार ‘गूढार्थ’ निकालने की चाल कुछ नहीं है। ‘भागवत’ के अश्लील भावों को बिल्कुल दिव्य-रूप में सजानेवाले सज्जनों की आज भी कमी नहीं। महाकवि निराला गीत-गोविन्द के उत्तान शृङ्गार को भी आध्यात्मिक-दार्शनिक स्वरूप देने की योग्यता-क्षमता रखते हैं। शङ्कराचार्य की ‘सौन्दर्यलहरी’ शृङ्गार-भक्ति की ललित सृष्टि है। गीतगोविन्द के रचयिता के सम्मुख ये सब तन्त्र-शास्त्र और शङ्कराचार्य आदि आदर्श-रूप में उपस्थित थे। अस्तु ;

अर्थ में किसी तरह हेर-फेर न करने पर गीतगोविन्द के गीतों की परिणति की परीक्षा की जानी चाहिए। हर गीत की समाप्ति होती है—भगवान् के श्रीचरणों की भव्य भक्ति पर, कलि के पापों को शमन करनेवाले मन्त्र की भाँति। यदि जयदेव वसन-वर्णन करते हैं तो उसे ‘हरि-चरण-स्मृति-सारम्’ समझकर, यदि कृष्ण की रूप-राशि, मोहिनी श्री की तरफ नजर डालते हैं तो ‘हरि-चरण-स्मरणम् प्रति सम्प्रति पुण्य-वतामनुरूपम्’ कहकर। राधा का विरह बताया गया है, सारे गीत में; पर कवि उसे चुपचाप हरि-चरणों पर नमर्पित कर देता है—

‘श्रीजयदेवभणितमिति गीतम्

सुखयतु केशवपदमुपनीतम् ।’

रति-वर्णन की समाप्ति होती है—

‘श्रीजयदेवभणितहरिचरितम्

कलिकलुषं जनयतु परिशमितम् ।’

‘कलियुगचरितं न वसतु दुरितम् ।’

आदि पदों पर। इसीलिए कहा गया है कि कृष्ण का विलास समझने के लिए शुक्रदेव-जैसे चरित्रवान्; रामकृष्ण विवेकानन्द-जैसे ब्रह्मचारी चाहिए। जयदेव अपने गीतों द्वारा कलि-युग के पापों के विनाश की बात पर इस तरह डूब गये हैं कि उनकी राधा भी उसी कृष्ण का याद करती हैं, जो कलि के पापों को दूर करनेवाले हैं—

‘विशदकदम्बतले मिजितं

कलि-कलुष भयं शमयन्तम् ।’

प्राच्यसाहित्य

इसी प्रकार विद्यापति राधा की रूप-श्री का वर्णन करते-करते उनके चरण-कमलों को अपनी गोद में लेकर चुपचाप बैठे रहने की अभिलाषा प्रकट करने लगते हैं—

‘देख-देख राधा रूप अपार
अपुरुष के बिधि आनि मिलाओल
खिति - तल लावनि - सार
अंगहि अंग अनंग मुरझायत
हेरए परए अधीर
मनमथ कोटि-मथन करु जे जन
से हेरि महि - मधि गीर
कत-कत लज्जिमी चरन तल नेओछए
रंगिनी हेरि विभोरि
करु अभिलाख मनहि पदपङ्कज
अहोनिस्ति कोर अगोरि ।’

और प्रेम-विह्वला राधा को, गोपियों को बार-बार धैर्य देकर कहते हैं—

‘धैरज धर चित मिलब मुरारि’

इन्हीं के द्वारा हमें कवि के अपने दृष्टिकोण का पता लगता है जो परम-पवित्र तथा नित्य चिन्तनीय है। जयदेव और विद्यापति—दोनों ही प्रेम-योगी हैं, अश्लील शृङ्गार के कवि नहीं, वासना के प्रचारक नहीं। मैं ऐसा ही समझता हूँ। फिर भी अपरिपक्वमति बालक-बालिकाओं के बीच इन्हें बिठलाना ठीक नहीं, और भक्ति-पथ-प्रदर्शक के रूप में आदर्श कहकर ग्रहण करना तो किसी के लिए उचित नहीं है। इनकी भावना-धारा आरम्भ से अन्त तक समानान्तर रहकर बही है, उद्गम-स्थान एक होने पर भी अनन्त-मिलन से पहले, दोनों का अस्तित्व, दोनों का स्वत्व-व्यक्तित्व बराबर कायम रहा है। इसलिए दार्शनिक सत्य की दृष्टि से दोनों में ऐक्य रहने पर भी दोनों एक ही नहीं हैं। जयदेव के कृष्ण राधामय हैं, किन्तु विद्यापति की राधा कृष्णमय। जयदेव अधिक साहित्यिक हैं, विद्यापति अधिक रसिक। सुख-दुःख

एक सौ छियानव्वे

दोनों में जयदेव संयत हैं, विद्यापति बहते हुए। जयदेव का संगीत मधुर है, विद्यापति के गीत मीठे। जयदेव द्रष्टा हैं, विद्यापति प्रदर्शक। साहित्यिक तुलना के लिए यह भेद दोष नहीं, मौलिकता का महत्त्व बतलानेवाला महत्तम गुण है।

जयदेव सुख के कवि हैं, विद्यापति सुख-दुःख दोनों के। जयदेव 'आनन्द' की ओर उन्मुख दीख पड़ते हैं, विद्यापति को सब कुछ स्वीकार है। जयदेव ने जैसे प्राप्त कर लिया है, पर विद्यापति ने पाकर खो दिया है। फिर भी वह निराश नहीं हैं।

इतने पर भी दोनों का विषय एक है और दृष्टिकोण समान। उद्देश्य एक है और विधेय समान। आरम्भ और अन्त में समानता रहने पर मध्य का काल्पनिक भेद साहित्यिक मनोरञ्जनमात्र के लिए है। भारत को छोड़ और कहाँ इस प्रकार एक ही में भक्त और कवि के दर्शन हो सकते हैं ?

अच्छा, बहुत हुआ। अब कवि की भक्ति की ओट में हम हो लें, कृष्ण बाँसुरी के सुर से राधा को पुकार रहे हैं, सखी अभिसार के लिए उन्हें तैयार कर रही है, मुबह होने में अब बहुत देर नहीं है।

कृष्ण मिलन के लिए अति अधीर हैं, तनिक पत्ते को हिलते देख वह राधा का आगमन समझ लेते हैं और टकटकी लगाकर राह देखने लगते हैं। सुनिप, सखी समझा रही है सब—

‘रति-सुखसारे गतमभिसारे मदन-मनोहर-वेशम्
न कुरु नितम्बिनि गमन-विखम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ।
नाम-समेतं कृत-संकेतं वाक्यते मृदु वेशम्
बहु मनुतेऽतनु ते तनुसंगतपवनचञ्चितमपि रेणुम् ।
पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कित-भवदुपयानम्
रचयति शयनं सचकितनयनं परयति तव पन्थानम् ।
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमासी ॥’

—जयदेव

×

×

×

×

प्राच्यसाहित्य

हाँ, राधा को अब देर करना उचित नहीं, संकेतित समय पर कृष्ण कदम्ब-तरु के पास कब से पहुँच चुके हैं। एक-एक पल पर विकल होकर बाट जोह रहे हैं—

‘नन्द क नन्दन कदम्बक तरुतल धिरे-धिरे मुरलि बजाव,
समय सँकेत निकेतन बहसल बेरि-बेरि बोलि पठाव,
साँवरि, तोरा लागि अनुखन बिकल मुरारि
जमुना क तिर उपवन उदयेगल फिरि-फिरि ततहि निहारि।’

—विद्यापति

राधा-कृष्ण के इस प्रेमाभिसार को हम जयदेव और विद्यापति की भक्तिभरी दृष्टि से देखें, अन्यथा आखें बन्द कर लें, दृश्य की सचाई आप ही आँसू की तरह समा जायगी। तीसरी राह कीच और दलदल की है।

अप्रैल '३६ ई०]

—

गीता और गीताञ्जलि

१

भक्त और भगवान् में जैसी कुछ समता या विषमता हो सकती है, गीता और गीताञ्जलि में भी वह ठीक वैसी ही है। गीता भगवान् की है और गीताञ्जलि भक्त की। भगवान् के गान का नाम गीता और भक्त के गीतोद्गार का उपहार गीताञ्जलि है।

दूसरे शब्दों में गीता साहित्यिक दर्शन है, और गीताञ्जलि दार्शनिक साहित्य। 'दर्शन' या 'साहित्य' का प्रयोग उन छद्म अर्थों में नहीं, जहाँ वे परस्पर वैरी हैं, आपस में ही 'इन्द्र जिमि जम्भ पर वाड़व मुअम्भ पर' का कुत्सित स्वांग रचते हुए, छह ऋषियों के छह दर्शन, छह दृष्टिकोण, (जैन-बौद्ध-चार्वाक आदि के तो नाम भी अग्रहणीय), सातवें आसमान पर साहित्य। यहाँ तो मैं सब दर्शनों का सामञ्जस्य स्थापित करनेवाली गीता की चर्चा चला रहा हूँ; साहित्य और दर्शन की मूल-भित्ति की इकाई की ओर इशारा कर रहा हूँ। हाँ, तो गीता साहित्यिक दर्शन और गीताञ्जलि दार्शनिक साहित्य है।

यह सब गीत हैं। आन्तरिक आनन्द के उद्रेक (उच्छ्वास) का गीत कहते हैं। आनन्द का आवेग प्रकट करने के स्वाभाविक आग्रह से गीत का आश्रय लेना पड़ता है। उस दिन भगवान् कृष्ण को बड़ा आनन्द आया था, अर्जुन का व्यामोह देखकर। लड़ाई के मैदान में, ठीक मौके पर वीरवर अर्जुन पर कमजोरी की चढ़ाई हुई थी, वह थरथर काँपने लगे थे, उनके हाथ से गाण्डीव गिर पड़ा था, साँी देह में जलन होने लगी थी, सिर में चक्कर आने लगा था। उन्हें महज मिट्टी के राज के लिए, गुरु, ताऊ, चाचे, लड़के, दादा, मामा, मसुर, पोते, साले आदि सगे-सम्बन्धियों पर खूनी हाथ उठाते हुए शर्म

प्राच्यसाहित्य

यन्मोक्षाकृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तित्कमिवीषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥
प्रायेणालोक्य लोको विषयरतिपरं मोक्षात् प्रतिहतं
काव्य-व्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षपरमिति ।
तद्बुद्ध्वा शामिकं यत् तदवहितमितो ग्राह्यं न खलितम्
पांशुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ॥'

कि 'मैंने तित्क ओषध को शहद के साथ खिलाया है, मेरा उद्देश्य शान्ति, वैराग्य का उपदेश देना ही है, काव्यगत शृङ्गारादि रसों का आस्वादन कराना नहीं । मैंने देखा, संसारी जीव विषय-सुख में अधिक आनन्दित दीखते हैं, मोक्ष की शुष्कता उन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती, इसी खयाल से मैंने मुक्ति की युक्तियों को काव्य की युक्तियों द्वारा आकर्षक बनाने की कोशिश की है । मैं चाहूँगा कि लोग शान्ति की शिक्षा ही सावधान होकर ग्रहण करें, विषय के सुख-सौन्दर्य की मरीचिका में न पड़ें ।' अश्वघोष का दार्शनिक उद्देश्य तो गीताञ्जलि में भी निहित है, पर उनका काव्य के प्रति उपेक्षा का भाव यहाँ नहीं । यहीं गीता से भी गीताञ्जलि पृथक् है । गीताञ्जलि में तो साहित्य का सुन्दर उभार मौजूद है । गीताञ्जलि पहले सङ्गीतमय साहित्य है, फिर दिव्य दर्शन । पहले सत्य, शिव, सुन्दर है; फिर सत्, चित्, आनन्द ।

× × × ×

गीता से माना भगवान् ने 'ध्रुव पद' गाया है, उसके अन्तरे है भक्त की गीताञ्जलि में । भगवान् ने आरम्भ किया—'अर्जुन ! मेरे अलावा और कहीं कुछ नहीं, सब कुछ मुझमें ही है, जैसे रंग-धिरंगी मणियाँ एक ही धागे में पिरोई हुई हों ।—

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥'

(भक्त के अन्तरे का) अन्तरे का सुर आगे आप बज उठता है—

'यत् दूर दृष्टि याव शृणु याव देखा

हे संगविहीन देव, तुमि बसि' एका'

दो सौ दो

जहाँ तक नजर जाती है—सिर्फ इतना ही दीख पड़ता है कि हे निःसङ्ग देव ! बस अखिल-निखिल में केवल तुम ही तुम विराज रहे हो !

या

‘ब्रमे, प्राणे, गन्धे, आलोके, पुष्पके,
प्रावित करिया निखित धूलोक भूलोके
तोमार अमल अमृत पदिछे करिया !’

(‘तत्त्वमसि’, ‘एकमेवाद्वितीयम्’ आदि की वैदिक शुष्कता गीता में हरियाली में बदल गई है और गीताञ्जलि में रंग-विरंगे फूलों से सजी फुलवारी की सूरत में) यहाँ इस भाव को व्यक्त ईश्वर की विराट् कल्पना समझनी चाहिए जिसमें उसके अस्तित्व से पृथक् अन्य किसी की सत्ता का आभास तक नहीं मिलता ।

× × × ×

ध्यान की एकतानता (Concentration) के द्वारा, मनःशुद्धि से मनुष्य ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त कर लेता है । तब अन्तरात्मा परमात्मा की ओर अग्रसर होती हुई यह अनुभव करने लगती है कि मैंने ‘उसे’ स्पर्श कर पहचान लिया है, उसे पा लिया है—

‘युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥’

ब्रह्म-संस्पर्श के अनन्तर निरन्तर सुख की अनुभूति होने लगती है; साधक को अपने साधारण जीवन में असाधारणता मालूम पड़ने लगती है; उसे बार-बार ‘उसकी’ भाँकियाँ मिलने लगती हैं; ‘उसकी’ पद-ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है; वह उस मृदुल स्पर्श और दिव्यदर्शन से पुनः-पुनः पुलकित-चकित होने लगता है; उसे अपने पास-पड़ोस के भोले जीवों पर अचरज होने लगता है कि वे ‘उसकी’ पद-ध्वनि सुनकर चमत्कृत क्यों नहीं होते ? क्या उन्होंने उसका आना नहीं जाना ? वह पागल-सा पूछने लगता है—

‘तोरा शुनिस्ति कि, शुनिस्ति तार पायेर ध्वनि

ऐ ये आशे, आशे, आशे,

युगे युगे पले पले दिन रजनी

से ये आशे, आशे, आशे !’

प्राच्यसाहित्य

क्या तुमने उसकी पद-ध्वनि नहीं सुनी ? वह आता है, आता है, हमेशा आता है। युग-युग से, दिन-रात, प्रति क्षण वह आता है, आया करता है !

मानव की जीवात्मा जैसे 'उस' (परमात्मा) से बिछड़ी हुई प्रेयसी है। वह उसे पाने को आकुल रहने पर भी प्रेमवश अनवरत एक-रस नहीं रह पाती, उस पर निद्रा (अज्ञान) का आवरण पड़ा रहता है। वह सोई रहती है; मोह-निशा में पड़ी रहती है, उसका प्रियतम उसके पास आता और चला जाता है, वह अभागिन आहें भरती, पछताती रह जाती है—

‘से ये पाशे ऐसे बसेछिल तबु जागि नि
की घुम तोरे पेयेछिल हतभागिनि !’

‘वह आया, तेरे पास ही बैठा, तो भी तू जागी नहीं ? अरी अभागिन, कैसी नींद में माती हुई थी तू ? आह, अगर उसके आने, गान सुनाने वगैरह का तुझे पता न चला, तो न सही, पर उसने तुझे गले भी तो लगाया था, तुझे उसके सरस परस का भी भान न हुआ ?

‘केन गो ता’र मालार परश
बुके लागे नि ?’

पर जब यही ‘ब्रह्म-संस्पर्श’ उसे प्राप्त हो जाता है, तो वह पगली बड़बड़ाने लगती है—

‘विश्व यखन निद्रामगन
गगन अन्धकार,
के देय आमार बीणार तारे
एमन रुझार !’

जब कि सारा का सारा संसार सुख-निद्रा की गोद में खराटे ले रहा है (या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी); सारे आसमान में अंधेरा छाया हुआ है, ऐसे समय में, वह कौन है, जो मेरी वीणा के तारों में झंकार दे रहा है ? मैं घबरा कर उठ बैठी हूँ और आँखें मीच-मीच कर उसे देखने की कोशिश कर रही हूँ, पर उसे देख नहीं पाती।

×

×

×

दो सौ चार

‘कोन् वेदनाय बुझि ना रे
हृदय भरा अश्रुभारे,
परिये दिते चाइ काहारे
आपन कयठहार !’

न जाने किस अज्ञात वेदना से मेरा हृदय आँसुओं में डूबा जाता है और न जाने किसके गले में अपनी माला पिन्हा देने को जी करता है ?

इतना ही नहीं, तब जागरित जीव जोर-जोर से पुकार कर कहने लगता है—

‘निशार स्वपन छुटल रे ओइ छुटल रे !

टुटल बाँधन, टुटल रे’

मेरी रात की नींद टूट गई, सपने लुट गए, मेरा बन्धन टूक-टूक हो गया, मैं जग गया, भाई !

×

×

×

सत्य आदि (धर्म) गुणों की ही तरह काम-क्रोध आदि अवगुण (पाप) भी पहले अति सूक्ष्म रूप में सामने आते हैं, हम अपने संयम को तनिक सरकते देख अधिक परवा नहीं करते, हम उन ‘छोटों’ से हार जाते हैं, अपना अपार बल उन्हीं को अर्पित कर उनके छुटपन को अनजाने ही अपना लेते हैं। और फिर ? फिर तो वह हमारी कमजोरी से बेजा फायदा उठाते ही हैं, हम चुपचाप उनका मुँह ताकते रह जाते हैं, वह हमारा सब कुछ हड़प लेते हैं, हम उनके कठिन कारागार के विवश बन्दी बन जाते हैं। गीता में इस दुर्बलता की दार्शनिक क्रमात्मक रूप-रेखा यों बतलाई गई है—

‘ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधात् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः

स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥’

भगवान् ने उस क्षणिक स्वरूप दुर्बलता का फल विनाश बतलाया है। अब भक्त की साहित्यिक भाषा में इसी अनुभूति का सुन्दर उद्गार देखिए—

‘ता’रा दिनेर बेछा एशेछिल आमर घरे,
 बखेछिल, एकटि पाशे रहब प’दे ।
 बखेछिल, देवता सेवाय
 आमरा हव तोमार सहाय—
 या—किछु पाइ प्रसाद जव पूजार परे ।
 एमनि क’रे दरिद्र क्षीण मखिन बेशे
 सङ्कोचेते एकटि कोणो रहल एशे
 राते देखि प्रबल हये
 पशे आमर देवालये
 मखिन हाते पूजार बलि हरण करे ।’

दिन में (कम कोलाहल के काल में नहीं, किन्तु प्रबोध की क्षणिक चेतना के समय) वह मेरे घर आया, और बोला कि मुझे भी रहने दो, मैं किसी एक कोने में पड़ा रहूँगा । इतना ही क्यों ? जब तुम अपने देवता की आराधना करने लगोगे, मैं अनेक प्रकार से तुम्हारी सहायता पहुँचाऊँगा । और पूजा, के उपरान्त देवता का थोड़ा-बहुत प्रसाद पा लिया करूँगा ।

इसी तरह की मृदु-मधुर बातें कह वह दीन हीन मलिन सङ्कोचवश एक नन्हें से कोने में बैठ गया । पर मैंने देखा, रात होते ही (मन पर मोह-मलिनता का विस्तार होते ही) वह जबर्दस्ती मेरे देवालय में घुसने लगा, और अपने गन्दे हाथों से मेरी पूजोपहार की सामग्रियों को छीनने लगा ।

कैसी मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म रीति से वही बात बताई गई है !

४

गीता से गीताञ्जलि में जो विभिन्नता है, वह केवल रहस्यवाद की नहीं, मेरे विचार से वह हृदयवाद की ही अधिक है । गीताञ्जलि में केवल रहस्य नहीं, हृदय भी है । और वह हृदय ही कवि का अपना है, मौलिक है ।

बाकी बातें तो उपनिषदों, दर्शनों की चिरन्तन उक्तियाँ हैं । गीता में हृदय का स्वरूप स्पर्श है, पर गीताञ्जलि में हृदय का सारा रस निचोड़ कर रख दिया गया है । वैसे तो गीता के श्लोकों को

दो सौ छह

गीताञ्जलि भर में पाया जा सकता है; ब्रह्मभूत, ब्रह्मसंस्पृष्ट, ब्रह्मसंस्थ—तीनों अवस्थाओं का विविध वर्णन देखा जा सकता है ज्ञान, कर्म भक्ति—तीनों की साहित्यिक सुषमा निरखी जा सकती है। और इस दृष्टि से ज्ञानज्योतिर्मयी गीता की अतल-स्पर्शिता के सम्मुख गीताञ्जलि बहुत छिछली मालूम पड़ सकती है, कदाचित् वह वैसी हो भी।

सांसारिक झमेलों से बचने (Relief) के लिए कोई गीताञ्जलि का स्वर्गीय संगीत सुनना चाहता है, पर गीता तो बचाव के लिए नहीं, सभी भगड़ों-बखेड़ों, झमेलों-उलझनों को सुलझाने के लिए है, अपने भीतर अजेय शक्ति के सञ्चय के द्वारा सारी झंझटों पर विजय प्राप्त करने की सच्ची साख के लिए है। और यही कारण है कि गीताञ्जलि में जहाँ स्वरिण स्वर्णों का जाल बिछा हुआ है; रंग-विरंगी किरणों की छटा छाई हुई है, वहाँ गीता में केवल सत्य, केवल ज्योति है। गीता द्वारा प्राप्त शान्ति जैसे जीवन की सम्पूर्ण क्रान्तियों की चरम परम परिणति है; छोटे-बड़े नदी-नाले, सागर-उपसागर पार कर प्रशान्त महासागर में पहुँचना है; भगवान् कृष्ण के सुहृद् शब्दों में—‘यद्गत्वा न निवर्तन्ते’ का उच्चतम स्तर प्राप्त करना है; जबकि वह गीताञ्जलि में महज उस बाँसुरी के सुखदायी सुर के समान है, जो दिन भर के कर्म-कोलाहल से श्रान्त-क्लान्त किसान को सन्ध्या-समय सरिता-तट पर सुनाई पड़ रहा हो; जो विरहिणी प्रेयसी को नीरव निशीथ में प्रियतम के मङ्गलमय मिलन-स्वप्न के रुचिर रूप में प्राप्त हो! गीताञ्जलि में पुलक है, रोमाञ्च है, पर गीता में केवल जीवन, केवल प्राण है—‘नहि कल्याणकृन् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति’ जैसी विश्वास-आश्वासन की शक्ति-शालिनी मन्त्र-वाणी है। गीताञ्जलि में सौन्दर्य है, गीता में दिव्य दीप्ति। संक्षेप में गीताञ्जलि बाँसुरी है, वृन्दावन है और गीता पाञ्चजन्य, कुरुक्षेत्र। गीताञ्जलि स्वर्ग है, गीता निर्वाण।

५

गीता का ज्ञान योग गीताञ्जलि में यों प्रकट हुआ है—

‘यात्री आमि ओरे

पादवे ना केउ राखते आमार धरे

दुःखे सुखे बाँधन सबह मिछे

दो सौ सात

प्राच्यसाहित्य

बाँधा ए घर रहबे कोथाय पिछे,
विषयबोझा टाने आमाय निचे,
छिन्न हये अक्षिये यावे प'दे ।'

अरे, मैं तो यात्री हूँ। मुझे बाँधकर कौन रोक सकता है? सुख-दुःख के सभी बन्धन भूँटे हैं। तो फिर इस घर में बँधकर रह कैसे सकता हूँ? विषय के बोझ मुझे दबाते हैं; किन्तु वे छिन्न-भिन्न होकर बिखर जायँगे।

×

×

×

रथ पर अभ्रभेदी झंडा फहराये, यह वही ता है, वही-वही, बाहर रास्ते पर। अजी, दौड़कर आओ, रस्सी नहीं खींचोगे? किधर घर के कोने में छुपे बैठे हो? इसी भीड़ में जल्द-जल्द तुम भी अपने लिए जगह बना लो! कहाँ, तुम्हें घर में कौन-सा काम है, वह सब बातें तो आज भूल जानी होंगी।

खींचो, मन लगाकर खींचो, तुच्छ प्राणों की माया-ममता छोड़ दो, उजियाले-अँधेरे, नगर-गाँव, जंगल-पहाड़ों पर से होकर खींचते चले चलो। यह जो झम-झम कर पहिए घूम रहे हैं, तुम्हें अपने प्राणों में वह ध्वनि सुनाई नहीं पड़ रही है?

क्या रक्त के आवेश से तुम्हारे प्राण डोलते नहीं? तुम्हारा मन मरण पर विजय पानेवाले गान नहीं गा रहा है? तुम्हारी आकांक्षाएँ वन्या के वेग की भाँति विपुल भविष्यत् में क्या नहीं छूट रहीं? वहती नहीं जा रही हैं?

‘उड़िए ध्वजा अभ्रभेदी रथे,
ऐ ये तिनि ऐ ये बाहिर पथे।
आयरे छुटे, टानते हबे रसि,
घरेर कोने रहलि कोथाय बसि?
भिदेर मध्ये झॉकिया प'दे तिये,
ठॉई करे तुइ ने ऐ कोनोमते ।’

×

×

×

दो सौ आठ

गीता का कर्म-योग गीताञ्जलि में इस प्रकार उल्लिखित है—

‘मुक्ति ? ओरे मुक्ति कोथाय पाबि,
मुक्ति कोथाय आछे ?
आपनि प्रभु सृष्टि-बोधन परे
बोधा सबार काछे ।
राखोरे ध्यान थाकरे फुलेर डालि,
छिड़क वख, लागुक् धूला-बालि,
कर्मयोगी तौर साथे एक हये
वर्म पदुक् करे ।’

और गीता का भक्तियोग तो गीताञ्जलि में भरा हुआ है ही, मैंने इसीलिए इसे ‘भक्त’ का गीतोद्गार कहा है—

‘आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार
चरण भूलार तले ।
सकल अहङ्कार हे आमार
डुबाओ चोखेर जले !’

प्रभु, मेरे मस्तक को अपने चरणों की धूल के नीचे नत कर दो, मेरे सारे अहङ्कार-अभिमान को मेरी ही आँखों के आँसुओं में डुबो दो ! मैंने व्यर्थ ही अपने को मिथ्या गौरव दे-देकर अपमानित किया है; पर अब तुम इससे अपनी इच्छाएँ पूर्ण करो, मेरे जीवन को मेरे लिए मत छाँड़ो ! मेरे अभिमान को मेरे ही आँसुओं में बहा दो ।

आदर दे-देकर तुम मुझे और दूर क्यों रखना चाहते हो ? मैं तो तुम्हारे ही आसन के नीचे मिट्टी पर लोटता रहूँगा, तुम्हारे ही चरणों की धूल से धूसर हूँगा—

‘आसनतलेर माटिर’ परे लुटिये र’ब
तोमार चरण-धूलाय धूलाय धूसर हब
केन आमाय मान दिये आर दूरे राखो ?’

× × ×
तुमने अपनी ही इच्छा से मुझे असीम बनाया है, मेरे मृत्-पात्र में हमेशा नया-नया जीवन भरा किया है, इस नन्हीं-सी बाँसुरी को बहुत से गिरि-पर्वतों पर ले जाकर बजाया है ।

प्राच्यसाहित्य

Thy infinite gifts come to me only on these very small hands of mine, ages pass and still Thou pourest and still there is room to fill.

‘उदार देव ! मेरे इन नन्हें-नन्हें हाथों में न जाने कब से तुम्हारे चिरन्तन दान बरस रहे हैं, कितने युग बीत गए, तुम अब भी बरसा रहे हो और ये अब भी खाली हैं !’

भक्ति के छींटे कितने ठंढे हैं, ये उद्गार कितने मीठे हैं ! पुनश्च, तीनों (ज्ञान, कर्म और भक्ति) का सामञ्जस्य तो गीता और गीताञ्जलि, दोनों में है ।

×

×

×

अन्ततः, अतुल अधिकारी जान भगवान् ने भक्त को अपना विश्व-रूप दिखला दिया, अपनी विभूतियों की अनुभूति करा दी, भक्त कृतकृत्य हो गया, वह प्रसन्न होकर कह उठा—

‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽभ्युत !

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥’

मेरा मोह मिट गया । भगवन् ! तुम्हारी कृपा से मेरी सुप्त स्मृति जाग उठी । मैंने अपने को पहचान लिया । मेरे मन में अब किसी किस्म का शक-सन्देह नहीं है । मैं तुम्हारी आज्ञा का अवश्य पालन करूँगा ।

भक्त-कवि रवीन्द्रनाथ भी इसी सुर में कितना मधुर गाते हैं—

‘यावार दिने एह कथाटि

ब’ले येन याइ—

या देखेछि या पेयेछि

तुलना तार नाइ—

एइ ज्योतिःसमुद्र माम्हे

ये शतदल पद्म राजे

ता’रि मधुपान करेछि

धन्य आमि ताइ—

यावार दिने एह कथाटि

जानिये येन याइ !’

अक्टूबर '३६]

— — —

दो सौ दस

: २२ :

भक्ति और शृङ्गार

दिव्य प्रेम (Divine love) को भक्ति कहते हैं और मानवीय (Sexual love) को शृङ्गार । भक्ति में आत्म-समर्पण की वृत्ति रहती है, शृङ्गार में नर-नारी के परस्पर स्नेहाकर्षण का मोह-सुख । 'नारद पाञ्चरात्र' में लिखा है—

‘माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न चान्यथा ॥’

सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त सुदृढ स्नेह को ही भक्ति कहते हैं । उसी से मुक्ति होती है ।

अवश्य ही इस स्नेह में एक विशेषता भी रहती है । स्नेह करनेवाले के हृदय में अपने आराध्य या प्रियतम के माहात्म्य का ज्ञान होना आवश्यक है । उसे यह धार्मिक दृष्टि से भी, समझना ही चाहिए कि मेरा प्रिय सर्वाधिक सुन्दर, सर्वश्रेष्ठ दयालु, अत्यधिक उदार या सम्पूर्ण विशेषतामय है ।

यदि उसमें भी किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तब स्नेह चिर-सुदृढ हो ही नहीं सकता । और, यह ध्रुव सत्य है कि इस दृश्यमान विश्व में त्रुटियों या दुर्बलताओं की पद-पद पर भरमार है । इसमें कोई भी निर्दोष या सम्पूर्ण गुणशाली नहीं पाया जा सकता । इसलिए ‘माहात्म्य-ज्ञान’ की यथार्थ रक्षा पशु-जगत् या मानवीय सृष्टि में न होकर ईश्वर में ही भलीभाँति हो सकती है । और इसीलिए, मैंने कहा कि ईश्वरीय या दिव्य प्रेम का ही नाम यथार्थतः भक्ति है ।

जैसे प्रेम का बिगड़ा हुआ रूप घृणा है, वैसे ही बना हुआ रूप भक्ति । मान लीजिए—हम किसी का जी-जान से प्यार करते हैं, उसकी जुदाई में आहें भरने लगते हैं; मिलन में पागल की तरह भूम-भूम पड़ते हैं । पर अगर अभाग्यवश किसी तरह उससे अनबन हो जाय, तो बस वही प्यार खार बन जायगा । अपने प्रिय के जिस रूप-रंग, हास-

दो सौ ग्यारह

प्राच्यसाहित्य

विलास, गति-विधि पर आज हम मर-मिटने को तैयार हैं, सर से कफन लपेटे जिस कातिल की खोज-ढूँढ़ में आसमान-जमीन का कुलावा मिलाते चलते हैं, वह एकदम फीका, स्याह मालूम पड़ने लगेगा, उसकी एक-एक बात आघातकर जान पड़ेगी, और उसे हम जानी दुश्मन समझने लगेंगे। हमारा प्यार जितना गहरा रहेगा, घृणा भी उतनी ही गहरी होगी। ठीक ऐसी ही बात भक्ति में होती है।

भक्ति के लिए भी हम पहले साधारण प्रेम का पथ पसन्द करते हैं, फिर ज्यों-ज्यों हमारी गति अग्रगामिनी होने लगती है, हम में केवल गति ही शेष रह जाती है। यात्रा का उद्देश्य राह के छोर तक पहुँचना भर रह जाता है, किसी स्थान-विशेष से कृत-कृत्य होकर लौट आना नहीं। प्रेम का फल प्रेम ही रह जाता है, किसी सुन्दर सुकुमार शरीर से लिपटकर जी जुड़ाना नहीं। यहाँ यह प्रेम शरीर की सीमा का अतिक्रमण कर दो पवित्र आत्माओं में जैसे एक अज्ञात एकता स्थापित कर देता है। सत्य प्रेम का यही सुन्दर तथा मङ्गलमय स्वरूप है। पर ज्योंही यह दो आत्माओं में इकाई कायम करने के बजाय आत्मा को परमात्मा की ओर उन्मुख-उत्सुक करने लगता है, पार्थिव प्रतीकों के माध्यम से प्रकाश में आने की लालसा को पार कर जाता है, इसका व्यावहारिक नाम 'दिव्य प्रेम' न रहकर भक्ति हो जाता है। इस 'एकीकरण' को वेदान्त के उस शुष्क अर्थ में न समझना चाहिए, जिसमें अपने में ब्रह्म रूप की, 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' की ज्ञानोपलब्धि के साथ ही 'सोऽहं' की अनुभूति प्राप्त करने की बुरी नौबत आ जाती है !

यहाँ तो मानो दो प्राण जुड़ जाते हैं, सचमुच एक हो जाने की जरूरत नहीं। जैसे शरीरतः प्रेमी और प्रेमिका, दिल और दिलरुवा का दो होना निहायत जरूरी है, उसी प्रकार आराध्य और भक्त की पृथक्-पृथक् सत्ता अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य ही प्रेमी और प्रेमिकाओं से भक्त और आराध्य में एक भेदमूलक विशेषता रहती है। प्रेम-शृङ्गार में प्रेमी प्रेमिका के लिए दीवाना बन जाता है, प्रेमिका प्रेमी के पीछे पगली हो जाती है, कभी-कभी दोनों एक दूसरे के प्रति अगाध स्नेह प्रदर्शित करते पाये जाते हैं, पर यहाँ केवल भक्त को ही आराध्य के प्रति प्रणय-प्रणत रहना पड़ेगा; पागल या दीवाना बनना होगा; सब

दो सौ बारह

कुछ न्योछावर कर देना होगा। यह दूसरी बात है कि भक्त पर भगवान् की भी अनुपम कृपा हो; वह उसके सम्पूर्ण मनोरथों को अनायास ही परिपूर्ण कर दे, पर भक्त तो केवल भक्ति के लिए भक्ति करता है, भक्ति में ही उसे अपूर्व सुखानुभूति होती है, अद्भुत आत्म-तृप्ति रहती है। यदि भक्ति में तृप्ति या सुखानुभूति न हो तो उसमें और गुलामी में फर्क ही क्या रह जाय ? निराला जी की (गुप्त जी की नहीं; वहाँ तो सीता और लक्ष्मण भाभी-देवर हैं।) 'पञ्चवटी' में भक्त प्रवर लक्ष्मण कहते हैं—

‘जीवन का एक ही अवलम्ब है—सेवा ;
है माता का आदेश यही,
मैं भी प्रीति के लिए ही चुनता हूँ सुमन दल,
इसके सिवा कुछ भी नहीं जानता —
जानने की इच्छा भी नहीं है कुछ ।
माता की चरण-रेणु मेरी परम शक्ति है—
माता की तृप्ति मेरे लिए अष्टसिद्धि—
माता के स्नेह-शब्द मेरे सुख साधन हैं ।
धन्य हूँ, मैं

भक्ति का सरस स्रोत जैसे लक्ष्मण के प्राणों में उमड़ रहा हो। माता के आदेश-पालन के अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं जानते, जानने की इच्छा भी नहीं होती ! कैसी तृप्ति है यह आत्मार्पण की ? कहने का तात्पर्य यह कि सकाम प्रेम में तो शृङ्गारत्व का विघात नहीं हो सकता, पर सकाम भक्ति को भक्ति नहीं कह सकते !

हाँ, यदि प्रेम-शृङ्गार भी निष्काम हो जाय, तो उसे भक्ति कहना ही समुचित होगा। जैसा कि मैं ऊपर लिख आया हूँ, उसमें केवल प्रकार या आश्रय मात्र का भेद रहता है, वास्तविक नहीं। लाल रंग की गाय को भी गाय ही कहा जाता है, और काले रंगवाली को भी गाय ही। इसलिए रक्तता या श्यामता-रूप विशेषण (प्रकार) के भेद से 'लाल गाय' या 'काली गाय' में जो भेद-बुद्धि होती है, वह वास्तविक नहीं है, व्यवहार के लिए कल्पित हुई है; गढ़ी गई है। उसी प्रकार आश्रय-भेद से जो भेद-बुद्धि होती है, वह भी काल्पनिक ही है। डण्ठल

प्राच्यसाहित्य

पर खिले हुए फूल को भी फूल ही कहा जाता है और तालाब में तिरते हुए फूल को भी फूल ही। इसलिए ढण्ठल और तालाब-रूपी आश्रय के भेद से 'ढण्ठल पर खिला हुआ फूल' और 'तालाब में तिरता हुआ फूल'-रूपी जो भेद-प्रतीति होती है, वह मिथ्या या व्यावहारिक मात्र है।

भक्ति और शृङ्गार निष्काम तथा सकाम प्रेम के दो रूप हैं। निष्काम (दिव्य) प्रेम भक्ति और सकाम प्रेम शृङ्गार है। अब रही बात प्रकार तथा आश्रय-जन्य भेद-प्रतीति की, सो तो केवल काल्पनिक ही है। इसलिए दास्य, सख्य, वात्सल्य शान्त या माधुर्य्य भक्ति-उपासना के रीति-विशेष, प्रकार मात्र हैं, इनमें वास्तविक भेद कुछ भी नहीं। तुलसीदास ने राम को मालिक मानकर दास-बुद्धि से, सूरदास ने कृष्ण को मित्र मानकर सख्य-भाव से, गोपियों ने उन्हें पति मानकर प्रेयसी (माधुर्य्य) रूप से उनकी उपासना की, तो इन विभिन्न भावनाओं में प्रतीत होनेवाला भेद वस्तुतः कुछ भी नहीं, सब भक्ति ही भक्ति है। इसीलिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण को एक ही स्वर से कह दिया है—

‘पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः,

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।’

इस तरह संश्लेष में निष्काम तथा सकाम प्रेम को भक्ति और शृङ्गार प्रतिपादित कर चुकने पर एक विरुद्ध तर्क भी उपस्थित किया जा सकता है कि यदि तुलसी-सूर या गोपियों या दास्य-सख्य-माधुर्य्य में वास्तविक भेद नहीं है, तो इसी प्रकार निष्काम-सकाम या भक्ति-शृङ्गार का भेद भी कल्पित ही कहा जाय ! पर यह तर्क-प्रकार एकदम निराधार होगा। कारण, भक्ति और शृङ्गार अँधेरे-उजाले की तरह बेतरह जुदा-जुदा हैं। सकाम प्रेम मोहमूलक तथा विनाश-फलशाली है, किन्तु निष्काम प्रेम ज्ञानमूलक तथा अमृतत्व-फलशाली होता है। सकाम प्रेमी कामी है, गुमराह है, गड्ढे की ओर जा रहा है। पर निष्काम प्रेमी साधना के पथ पर है, भगवान् के चरणों की ओर बढ़ रहा है। वह जैसे भगवान् को पहचानकर कह रहा हो, ‘तुम चाहे जिम रूप में रहो, मैं तुमसे अलग कैसे रह सकता हूँ ?’ नन्द ग्वाले के बाँसुरीवाले लड़के पर ग्वालिनें न्योछावर नहीं थीं, बल्कि भक्त की आकुल आत्माएँ अपने

दो सौ चौदह

भगवान् को पहचानकर उससे लिपट जाना चाहती थीं। कृष्ण के मथुरा जाते समय वह इसीलिए रो रही थी कि जन्म-जन्म की साधनाओं के बाद बड़े भाग्य से उन्होंने अपने प्रिय को प्राप्त किया था, वे फिर से उसे भूल से भी खोना कैसे चाहतीं ? पर अभाग्य ने निर्दय हाथों से लूट जारी कर दी थी, अब यह दुख उनसे कैसे सहा जा सकता था ? उनके वाष्प-गद्गद कण्ठ से जैसे यही करुण सङ्गीत फूट रहा था—

‘आमि कखनो वा भुलि, कखनो वा चलि,
तोमार पथेर लख्य धरे;
तुमि निष्ठुर सम्मुख हते याओ ये सरे !’

(२)

भक्ति और शृङ्गार का स्वरूप सुस्पष्ट हो जाने के बाद इस संशय के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता कि मीरा, चण्डीदास, जयदेव, विद्यापति, तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों की रचनाएँ किस कक्षा में रक्खी जायँगी ! रामी (मीरा का ही जैसे रूपान्तर हो !) धोबिन चण्डीदास की प्रेम-कविताओं की आत्मा है, वही उनकी मूर्त्तिमती कविता है। चण्डीदास उसे जिस दृष्टि से देखते थे, वह दृष्टि ही उनकी असलियत का बयान दे सकती है। रामी धोबिन के प्रति चण्डीदास की सुप्रसिद्ध कविता है—

‘एक निवेदन करि पुन पुन
शुन रजकिनि रामि !
युगल चरण शीतल देखिया
शरण लइलाम आमि ।
रजकिनि रूप किशोरी स्वरूप
काम गन्ध नाहि ताय,
ना देखिले मन करे उचाटन
देखिले परान जुड़ाय !’

ऐ रामी धोबिन, सुन सही, मैंने तेरे युगल चरणों को शीतल (ताप-दाह दूर करने में समर्थ) समझकर ही, उनकी शरण ली है, मुझे इसी एक बात का तुझसे बार-बार निवेदन करना है। तेरा यह

प्राच्यसाहित्य

किशोर वयस का सुन्दर स्वरूप ! सच कहता हूँ, इसमें काम-वासना की तनिक गन्ध तक नहीं है। फिर भी न जाने क्यों, इसे देखे बगैर मेरा जी कैसा-कैसा करने लगता है, और देखते ही प्राण जुड़ा जाते हैं !

‘तुमि रजकिनि आमार रमनि
तुमि हृओ मातृ-पितृ
त्रिसन्ध्या याजन तोमारि भजन
तुमि वेद-माता गायत्री ।
तुमि वाग्वादिनी हरेर घरनि
तुमि से गलार हारा
तुमि स्वर्ग मर्त्य पाताल पर्वत
तुमि से नयनेर तारा’

तू मेरी रमणी है, पर तू ही मेरी माता भी है, पिता भी है - सब कुछ तू ही तो है। त्रिकाल सन्ध्याओं में मैं तेरी ही आराधना, उपासना करता हूँ, तू वेदों की माता गायत्री जो है ! इतना ही क्यों ? तू साक्षात् सरस्वती है, सती पार्वती है ! तू मेरे कण्ठ की मनोहर मालिका है, तू मेरी आँखों की तारिका है - इमीलिए स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, पर्वत सब ओर तू ही तू दीख पड़ती है ! तेरे अलावा मेरा और है कौन ?

इसे अच्छी तरह समझ लेने पर कवि के दिव्य प्रेम या शृङ्गार-वासना-विषयक दृष्टिकोण को समझने-परखने के लिए, बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं रह जाती है।

इतने पर भी जिन्हें चण्डीदास गन्दे ही मालूम पड़ते हैं, कहना चाहिए, उनकी आँखें एकदम गन्दी हो गयी हैं, वे इन लोगों की रचनाएँ पढ़ने-समझने के वास्तविक अधिकारी नहीं हैं। भगवान् कृष्ण तक ने अपनी गीता को अधिकारी भक्तों को ही सुनाने-समझाने का आदेश दिया है, इसमें बहुत बड़ा रहस्य अन्तर्हित है। फिर मैं रीतियुग के कवियों की सारी अनीतिमूलक कृतियों को तो भक्ति के उद्गार कह नहीं रहा। वहाँ निश्चय ही उत्कट वासना है, मलिनता है, शृङ्गार है, और बहुत स्थलों में बीभत्स-शृङ्गार भी है। अस्तु ;

कुछ भ्रष्ट कवियों की रचनाएँ देखकर लोग गोपियों के दिव्य प्रेम को भी कुत्सित, क्लुषित समझने की भूल कर बैठते हैं। पर इसमें

दो सौ सोलह

बेचारी गोपियों का क्या दोष ? यदि कोई चित्रकार गणेश की मूर्ति बनाते-बनाते बन्दर की तसवीर बना बैठता है तो इसमें मङ्गलमूर्ति गणेश जी का क्या अपराध ? जिन्होंने भगवान् कृष्ण को आलम्बन न बनाकर 'बाँके छैला' को बनाया, उनसे परम-पावन प्रेम की पिपासा मिटाने का प्रयत्न नितान्त निष्फल है। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि कहीं-कहीं भक्त कवियों ने भी (शायद रसिकता की रक्षा के लिए) जिस बीभत्स शृङ्गार के गड्ढे में डुबकियाँ लगाई हैं उस गड्ढे को मानसरोवर समझना भूल ही होगा; या जो जगह-जगह जहर उगला है, उसे अमृत समझना फिजूल होगा। उनके व्यक्तित्व या महात्म-रूप पर मेरा कोई आक्षेप नहीं, पर सिर्फ इमीलिए उनके काँच को हीरा कहना खरी आलोचना के खिलाफ होगा। मैं समझता हूँ कि मनुष्य होने के कारण भक्त रहने पर भी गलतियाँ करना स्वाभाविक है। कम-से-कम मैं उन गलतियों को सही कहने के लिए तैयार नहीं हूँ। पर हर्गिज मेरा यहाँ यह मतलब नहीं है कि उनके भ्रान्त भावों की ही पुनः-पुनः आवृत्ति की जाय और उनके सत्य, दिव्य, उदार उद्गारों से वञ्चित रहा जाय। बस गुलाब के फूल की कस-कसकर शिकायत ही की जाय कि वह कँटीले डण्ठल पर क्यों खिला हुआ है ? कमल का कलेजा मसल-मसलकर यही कहा जाय कि वह पङ्क के अङ्क से क्यों पैदा हुआ ?

सबसे बड़ी भूल गोपियों को साधारण स्त्री मानकर चलने से होती है। गोपी-उद्धव-संवाद में भक्ति और ज्ञान की जो धारा बही है, गोपियों ने उद्धव को जैसे-जैसे उत्तर दिये हैं, वह सब जान-सुनकर भी यदि उन्हें महज भोली-भोली ग्वालिन न समझने की शक्त नहीं आती, तो मैं कहूँगा—वैसी समझवालों के लिए कृष्णावतार को न मानना, गीता, महाभारत या भागवत को शेखचिल्ली की कहानियाँ समझना ही ठीक है, शास्त्र तो ऊँचे स्तर से सुना-सुनाकर कह रहा है—

‘गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया न मानुष्यः कथञ्चन।’

कृष्णोपनिषद् में लिखा है कि वनवास के समय सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्री रामचन्द्र जी का साक्षात्कार कर उनके सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूप पर रीझ कर ऋषि-महर्षियों ने उन्हें आलिङ्गन करने की

प्राच्यसाहित्य

उत्कट अभिलाषा प्रकट की थी, भगवान् ने विहँस कर बताया था कि—

‘भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ ।’

कल्पान्तर में जब कृष्णरूप में आऊँगा, तुम गोपिकाओं के रूप से मेरा आलिङ्गन कर सकते हो । उस समय तपोवन में जितने शत-सहस्र ऋषि-महर्षि थे, उतनी ही संख्या में गोपिकाएँ भी हुईं । एक प्रकार का और भी वचन मिलता है कि श्रुतियों-उपनिषदों में जितनी ऋचाएँ हैं वही सब गोपी-रूप से सजीव हुई थीं ।

‘अष्टावष्ट सहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा ।

ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः ॥’—कृष्णोपनिषद्

गोपियाँ ऋचाएँ (ऋषियों की ज्ञानराशि) हों चाहे उनकी साक्षात् प्रतिमाएँ हों, पर वह मानवी किसी भी दशा में नहीं थीं ।

‘न मानुष्यः कथञ्चन !’

रासप्रकरण में वेदन्यास का वचन है—

‘एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेच्छयोदामविलासहासैः ।

रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथाऽभैकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ॥’

अर्थात् किसी का हाथ पकड़, किसी का आलिङ्गन कर, किसी की ओर स्निग्ध दृष्टि से देख—यों भौँति-भौँति के उन्मुक्त हास-विलास के साथ कृष्ण गोपबालाओं के संग-संग उसी प्रकार खेल रहे थे जिस प्रकार बालक अपनी ही छाया के साथ कुतूहल से खेलता है । कृष्ण और गोपियों के अशेष आमोद-प्रमोद का—रास का रहस्य बस एक ही उपमा द्वारा सुस्पष्ट कर दिया गया है—

‘यथाभैकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ।’

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

‘न मयावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।

भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेप्यते ॥’

दो सौ अठारह

भक्ति और शृङ्गार

अर्थात् जिनकी चित्तवृत्ति मुक्तमें लगी हो, उनका काम लौकिक काम नहीं हो सकता, वह काम प्रेम तो है, पर उसे सांसारिक, वासनामूलक समझना व्यर्थ होगा। उदाहरण देते हैं कि भूने हुए धान खेत में बीज का काम नहीं कर सकते।

भगवद्विषयक प्रेम में वासना दग्ध हो ही जाती है। सांसारिक इन्द्रिय-सुख की कामना रहने पर ईश्वर में प्रीति हो कैसे सकती है? जो हो, गोपियों के प्रेम पर यहाँ बहुत नहीं लिख सकूँगा। वह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है। फलतः कीच उछालनेवालों का प्रसङ्ग भी यहाँ अनावश्यक होगा। 'भ्रमरगीत' के द्वारा गोपियों की प्रेमा भक्ति का जैसा अच्छा परिचय मिलता है, व्यास और सूरदास से लेकर सत्यनारायण कविरत्न तक अनेक सत्कवियों के काव्यों में उसकी अपूर्व अवतारणा प्रशंसनीय ही नहीं, मननीय भी हुई है।

किन्तु विरह-मलिन गोपियों के अश्रु-विमल प्रेम पर जिनकी आँखें नहीं टिकतीं, उन्हें माखनचोर कृष्ण के प्रति गोपी की यह उक्ति पढ़नी चाहिए—

‘क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया

स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।

मानसे मम नितान्ततामसे

नन्दनन्दन कथं न लीयसे?’

माखन चुरा कर भागे जाते हुए कृष्ण को पुकार कर प्रेमिका गोपिका कहती है कि हे नन्दनन्दन! माखन की चोरी पकड़ जाने के खौफ से जो तुम भागे जा रहे हो, सो इस तरह परेशान होने की भला क्या जरूरत है? मैं तो तुम्हारे पास ही खड़ी हूँ, मेरे ‘अन्धकार’-सघन गहन मन में क्यों नहीं छुप जाते? जहाँ किसी भी प्रकार कोई तुम्हें नहीं देख सकता!

क्या कोई रसिक यहाँ वासनामूलक शृङ्गार का आभास पा सकता है? और भी—

‘यदि नीतं नवनीतं

नीतं पीतं च, किन्तेन?

दो सौ उन्नीस

आतप - तापित - भूमौ

माधव ! मा धाव, मा धाव ॥'

एक दूसरी गोप-वधू निवेदन करती है कि प्यारे माधव ! यदि तुमने माखन चुराया, खाया, तो अच्छा ही किया, इससे हानि क्या हुई ? लेकिन मैं यह प्रार्थना करती हूँ कि इस दोपहरी की लू से जलती हुई जमीन पर दौड़ो मत, भागो मत, लौट आओ, मोहन !

यह है रोज-रोज नन्द और यशोदा के पास जोर-जोर से कृष्ण के खिलाफ उलाहने देनेवाली गरूर-भरी ग्वालिनों की बोली ! प्रेम के सरोवर से जैसे फव्वारे के जरिये नन्हें-नन्हें ज्योतिःकण छहर रहे हों !

अक्टूबर '३६]

— — —

ब्राह्मण

अगर जमीन ऊपर उठकर आसमान से नहीं मिल सकती, तो यह भी निश्चय है कि आसमान जमीन का सोंधी महकवाला मुँह चूमने के लिए नीचे नहीं उतर सकता। यों कोई बैठा-ठाला आदमी जमीन-आसमान का कुलावा मिलाया करे।

आज भारतवर्ष के श्रेष्ठतम वर्ण का नाम ब्राह्मण नहीं है, पर एक समय वैजा भी था जब हमारा देश संस्कृति और सभ्यता के सर्वोत्तम शिखर पर विराजमान था, उस समय यहाँ की यही ब्राह्मण जाति संसार भर के लोगों को सभ्यता और सच्चरित्रता की शिक्षा देती थी। मनु ने लिखा है—

‘एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादप्रजन्मनः ।

स्वं-स्वं चरित्रं शिचेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥’

अर्थात् इसी देश में उत्पन्न ब्राह्मणों के निकट आ-आकर पृथ्वी के सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।

जो जाति किसी समय सम्पूर्ण विश्व के मानव को शिक्षित, सभ्य तथा सदाचारी बनाने की शक्ति रखती थी, आज कालक्रम से वह इतनी अशिक्षित, असभ्य तथा दुश्चरित्र हो गई है कि उसे सर्वाधिक निम्न क्या, पतित तक कहते कोई कुण्ठित नहीं होता।

पर जिस समय त्याग और तपस्या की मूर्ति इस जाति का प्रतापादित्य मध्याह्न की प्रभा में था; सब के उत्तमाङ्ग इसके पाद-पद्मों का पराग प्राप्त करने के लिए विनय-मत्त रहते थे आज उस युग की स्मृति का अवशेष मात्र इस भ्रष्ट देश में है। फिर भी न जाने, क्यों कविवर वियोगी के शब्दों में यह कहने की इच्छा होती है कि—

‘दृष्ट गई प्याली, पर उसकी स्मृति में भी मस्ती है।

इस उजाड़ में भी सुख-दुख की नन्हीं-सी बस्ती है ॥’

प्राच्यसाहित्य

हाँ तो छान्दोग्य-उपनिषद् में उसी समय के एक ब्राह्मण-बालक का उपाख्यान है। उसका नाम था सत्यकाम। और उसकी माता का नाम था ज्वाला। एक दिन उसने अपनी माता से पूछा कि 'मैं किस गोत्र का हूँ ? मुझे बता दो, मैं भी अब आश्रम में जाकर ब्रह्म-विद्या (वेद) की शिक्षा ग्रहण करूँगा।'

माता ने कहा—'तात ! मुझे तो तुम्हारा गोत्र ज्ञात नहीं। जब तुम उत्पन्न हुए थे—मैं नवयुवती ही थी। दिन-रात अतिथियों-अभ्यागतों के सेवा-कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उस समय तुम्हारे पिता से मैं उनका गोत्र नहीं पूछ सकी थी। और अब तो वह इस संसार में रहे नहीं। मुझे केवल इतना ही मालूम है कि तुम्हारा नाम सत्यकाम है और मेरा ज्वाला। इसलिए यदि तुम्हारे आचार्य्य तुमसे गोत्र की जिज्ञासा करें तो उनसे कह देना कि मैं 'जाबाल' हूँ।'

बालक गुरु गौतम के पास पहुँचकर माता की कही हुई बातों का अक्षरशः अनुवाद कर गया। सुनकर ऋषि ने समझ लिया कि यह निश्चय ही ब्राह्मण का बालक है। क्योंकि ब्राह्मणेतारों के स्वभाव में इतनी ऋजुता, ऐसी सरलता प्राप्त होने की नहीं। फलतः उन्होंने उसका उपनयन-संस्कार करने के लिए समिध आदि होम की सामग्रियाँ लाने की तत्क्षण आज्ञा दे दी।

इसी कथानक को कवीन्द्र रवीन्द्र ने काव्य की स्वर्णाभा से विभासित कर अपने सुप्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'चित्रा' में प्रकाशित कराया है। उसका शीर्षक रक्खा है 'ब्राह्मण'। यहाँ उसी की समीक्षा की जाती है।

काव्य के आरम्भ में सरस्वती के तीर पर बसे हुए गौतम मुनि के सान्ध्यकालिक प्रशान्त आश्रम का नितान्त सुन्दर वर्णन है। ऋषि शिष्यों को ब्रह्म-विद्या का उपदेश देने जा रहे हैं, इसी समय वह पूर्व-वर्णित बालक सत्यकाम वहाँ पहुँचता है और अपनी ब्रह्म-विद्या सीखने की अभिलाषा प्रकट करता है। ब्रह्मर्षि उससे उसके गोत्र की जिज्ञासा करते हैं। वह कहता है कि उसे गोत्र का ज्ञान नहीं, वह अपनी माता से पूछकर दूसरे दिन फिर आवेगा। माता ने पूछने पर बतलाया कि 'मैंने अपनी जवानी में दरिद्रता के कारण बहुतों की परिचर्या कर (यौवन-दान देकर ?) तुम्हें पाया है। तुम पतिहीन (विधवा, कुमारी

दो सौ बाईस

या वाराङ्गना ?) जबाला की गोद में जनमे हो । फिर तुम्हारा गोत्र मैं क्या बताऊँ ?

दूसरे दिन शिष्य-मण्डली-मण्डित गुरु गौतम के पास आकर बालक सत्यकाम मा का कहा कहता है । सुनते ही जैसे मधुमक्खी के छत्ते पर ढेला फेंक दिया गया हो, सब शिष्य आश्चर्य-चकित होकर आपस में कानाफूसी करने लगते हैं । कोई हँस पड़ता है, कोई उस निर्लेज अनार्य का अहंकार देख धिक्-धिक् कहने लगता है, पर इसी समय गौतम ऋषि आसन छोड़, भुजाएँ फैला बालक का आलिंगन करते हुए कहते हैं कि 'तुम अब्राह्मण नहीं, सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हो—सत्य-कुलोपन्न हो !'

मैंने पहले शंकराचार्य के भाष्य-समेत उपनिषद् के इस उपाख्यान का सारांश लिख दिया है । रवीन्द्रनाथ के 'ब्राह्मण' का संक्षिप्त सार उपरिलिखित है । अब विज्ञ-जन दोनों के परस्पर-विरुद्ध दृष्टिकोणों का सूक्ष्मता से अवलोकन करें ।

उपनिषद् की जबाला का कहना है कि जब सत्यकाम उत्पन्न हुआ था, वह युवती थी, अतिथि-सत्कार में निरन्तर व्यस्त भी रहती थी—सोचा था गोत्रादि के बारे में फिर कभी पति से पूछ लेगी (यौवन के प्रथम प्रहर में अपने प्रियतम के पूर्वजों के नाम या गोत्र की स्वभावतः ही जिज्ञासा नहीं हुई हांगी) पर इसी बीच वह विधवा हो गई ।

काव्यता में कहा जाता है कि उसने जवानी बेचकर बच्चे को पाया है । उसे बहुतां की 'परिचर्या' (!) करनी पड़ी है, पता नहीं, सत्यकाम किसका पुत्र है ! सुस्पष्ट शब्दों में सत्यकाम ब्राह्मण तो क्या, साक्षान् वर्णसङ्कर है । इसीलिए शिष्य-गण छी-छी कह उठते हैं । पर ऋषि उसकी सत्यवादिता पर प्रसन्न होकर उसे 'सत्यकुलजात' कहते और गले लगाते हैं ।

इस प्रकार सम्भवतः रवि बाबू ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वैदिककाल में भी ऐसे उदारचित्त ऋषि-महर्षि थे, जो एक विधवा या वेश्याकल्प स्त्री की वर्णसङ्कर सन्तान को—अज्ञातकुल-गोत्र बालक को—केवल सत्याचरण के कारण ब्राह्मण कहकर ब्रह्मविद्या का उपदेश देते, गले लगाते नहीं सकुचाते थे । पर देखो, आज समाज में ब्राह्मणों ने कैसी ढोंग फैला रक्खी है ? 'जात्या ब्राह्मणत्व' के नारे लगाते हैं

मूर्ख ! दूसरे शब्दों में, शबरी के जूठे बेर खाकर तथा केवट को गले लगाकर जैसे भगवान् रामचन्द्र ने अछूतोद्धार का आदर्श उपस्थित किया था, उसी प्रकार इन गौतम ऋषि ने भी एक शूद्र से भी गये-बीते बालक को ब्रह्म-विद्या (वेद) बताकर अनुपम आदर्श समाज के सामने रक्खा । 'कर्मणा वर्ण-परिवर्त्तन' की कामना रखनेवालों के लिए रवि बाबू भी मानो इस काव्य के द्वारा एक आदर्श रख रहे हैं ।

२

जिस प्रकार आज कल बात-बात में मौलिकता की दुहाई दी जाती है, उसी प्रकार एक पूर्वकालिक प्रथा अपने अभिनव विचार को प्राचीन सिद्ध करने की है । ध्वन्यालोककार ने काव्य में सर्वश्रेष्ठ माने जानेवाले अपने ध्वनिमत का प्रतिपादन करते समय उसे प्राचीन से प्राचीनतर सिद्ध कर दिया है । जैसे आज मौलिकता के बिना श्रेष्ठता या प्रतिष्ठा की दुंदुभि नहीं बजती, उसी प्रकार पहले अपने मौलिक विचार को परम्परागत, लोक-वेद-प्रसिद्ध सिद्ध किये बिना काम नहीं चलता था । कोई उसकी इज्जत या परवा ही नहीं करता था । मौलिकता का अर्थ व्यक्तिगत विचार समझा जाता था । रवि बाबू ने भी अपने मौलिक मनोभाव को उस उपनिषद् के कथानक का हवाला देकर प्राचीन ही नहीं—बिलकुल वैदिक बना दिया है । जो अत्यन्त स्वतन्त्र, वैयक्तिक तथा अतिरञ्जनपूर्ण काव्यजन्य मनोरञ्जन मात्र के लिए उपयुक्त है । मेरे विचार से वेद का ऐसा मनमाना मतलब निकालना महज मजाक है । हालाँकि ब्राह्मण वर्ण की ही भाँति वेदों की भी इन दिनों बड़ी दुर्दशा हुई है ।

संक्षेप में, उपनिषद् तथा रवीन्द्रनाथ के भावों में यही मौलिक विभेद दृष्टिगत होता है कि रवीन्द्रनाथ के सत्यकाम को सत्यवादी होने के ही कारण गौतम ऋषि ब्राह्मण कह देते हैं, किन्तु उपनिषद् के सत्यकाम की सत्यवादिता से प्रसन्न होकर ऋषि विचार करते हैं कि ब्राह्मण हुए बगैर कोई भी इतना सरल-स्वभाव तथा स्पष्टवक्ता नहीं हो सकता । अब यह समझना होगा कि सत्यवादी होने के कारण ब्राह्मण होना और ब्राह्मण होने के कारण सत्यवादी

होना—यह दोनों दो बातें हैं। उपनिषद् के अनुसार ब्राह्मण होने के कारण ऋजु-स्वभाव, सत्य-प्रकृति, स्पष्टवादी होना यह बतलाता है कि ब्राह्मण में जहाँ त्याग, तपस्या आदि अनेकानेक अपनी जातीय विशेषताएँ रहती हैं, वहाँ उसमें सत्यवादिता भी सत्यकाम की कोटि की होती है। केवल सत्यवादी होने के ही कारण कोई ब्राह्मण नहीं कहला सकता। इसीलिए महाराज हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर आदि सत्यावतार होने पर भी राजर्षि ही कहलाए, ब्रह्मर्षि नहीं।

‘धिग्बलं त्रिभुवनं ब्रह्मतेजो महद्बलम् ।’

माननेवाले विश्वामित्र ने राजर्षि से ब्रह्मर्षि बनने के लिए न जाने कितनी कठिन तपश्चर्या की थी। अर्थात् ब्राह्मण होने के लिए ब्राह्मण-वंश में उत्पत्ति और उसके आदर्श का पालन, दोनों ही आवश्यक हैं। केवल कर्मणा नहीं, जात्या ब्राह्मणत्व की भी अपेक्षा होती है।

‘जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।’

का अर्थ यह नहीं कि सिंह और शृगाल का बच्चा एक ही कुल का मान लिया जाय। किन्तु रवीन्द्रनाथ के काव्य में एक ‘वर्ण-संकर’ (जैसा कि बेचारा ब्राह्मण-बालक सत्यकाम वहाँ चित्रित हुआ है) भी केवल निश्छल सत्य बोलने के कारण ही ब्राह्मण बना लिया गया है। मानो ब्रह्मसमाज या आर्यसमाज ने कृपा कर उसे शुद्ध कर लिया है। पर सत्यकाम को जैसी वचन की निर्दोषता के कारण रवि बाबू ब्राह्मण बना लेते हैं उससे तो विश्व का प्रत्येक बालक ब्राह्मण कहा जा सकता है। उपनिषद् के लिए ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती। कारण, वहाँ सत्यवादिता को ही ब्राह्मणत्व नहीं बताया गया है। वहाँ के सत्यकाम को ऋषि के द्वारा गोत्र-ज्ञान की प्रेरणा नहीं मिलती। वह स्वयं अपने को ब्राह्मण समझ कर ही जैसे वेद पढ़ने की अभिलाषा से माता से अपना गोत्र पूछता है। वह बिल्कुल अज्ञान बालक नहीं, वह जानता है कि बिना गोत्र जाने ऋषि के समक्ष ब्रह्मविद्याध्ययनार्थ नहीं जाया जा सकता। उसकी माता की सत्यवादिता उसे निर्भीकता

प्राच्यसाहित्य

से आश्रम में पहुँचा देती है । वह सब सुना जाता है । तब ऋषि कहते हैं—

‘नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति ।’

ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी में ऐसी स्पष्टवादिता का साहस नहीं हो सकता ।

‘समिधं सोम्याहरोष त्वा नेष्ये न सत्यादरा इति ।’

फिर आदेश देते हैं कि जाओ सौम्य ! हवन के लिए समिध ले आओ, तुम सत्य से—जो कि ब्राह्मण जाति का विशिष्ट धर्म है, विचलित नहीं हुए—इसलिए मैं तुम्हारा उपनयन-संस्कार करूँगा । अर्थात् यदि उसकी मा चाहती तो भूठ-मूठ उसे किसी गोत्र का नाम बता दे सकती थी, या मा के गोत्र-विषयक अज्ञान से उब कर वह स्वयं भी चाहता तो किसी गोत्र का नाम ले सकता था । पर उसने मिथ्या को प्रश्रय न देकर अपना सत्यकाम नाम सार्थक कर दिया । जो आरम्भ में ही भूठ बोलकर ब्रह्म-विद्या सीखने का आडम्बर करेगा, उसे ब्रह्म-विद्या का क्या खाक ज्ञान होगा ? ऋषि की प्रसन्नता का कारण यही प्रतीत होता है । इस भाव को ‘विधवा-विवाह’ या ‘अछूतोद्धार’ जैसा रूप देना निरर्थक लगता है । वैसे रवि बाबू के अनुसार अर्थ करने से काव्य-धीणा में मधुर झङ्कार आ गई है, सत्य—नग्न सत्य—का सूक्ष्म-सौन्दर्यमय महत्त्व कवितोद्यान में वसन्त की विभा लानेवाला हो गया है । पर, इसीलिए उपनिषद् या शङ्कराचार्य का अपमान नहीं किया जा सकता । इससे तो अच्छा था कि एक नया कथानक गढ़कर (जैसे कि ‘एक फूल की चाह’ के द्वारा श्री सियारामशरण गुप्त ने अछूतों के मन्दिर-प्रवेश के लिए सहृदयों की सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा की है) इस भाव को पल्लवित-पुष्पित किया जाता । लेकिन हाँ, तब छान्दोग्य-उपनिषद् का नाम लेकर इस भाव को प्राचीन सिद्ध करने का अवसर नहीं मिलता । मुझे उपनिषद् के ऐसे अप्रामाणिक अर्थ से ही शिकायत है, काव्यगत भाव के सफल प्रभाव से नहीं । परकीया का प्रेम अधिक आकर्षक होता है, इसीलिए काव्य में सती या सीता को भी परकीया चित्रित करने का प्रयास अवश्य व्यर्थ तथा सदोष सिद्ध होगा ।

दो सौ छब्बीस

मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सर्व-वर्ण-सम्मेलन या जात-पाँत-तोड़क-मण्डल के इस परमहंस-युग में—

‘प्राप्ते तु भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमाः ।’

सब वर्ण ब्राह्मण न माने जायें। या विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम-स्वरूप साहित्य के द्वारा इतने उदार-उदात्त भावों का विस्तार-प्रचार नहीं किया जाय। किन्तु कम-से-कम विद्वज्जन आर्य्य-संस्कृति के प्राणभूत वेदों के साथ मनमानी न करें, मेरा इतना ही निवेदन है। मैक्समूलर की भाषा में वेदों का मर्म समझने से भ्रान्ति की अधिक सम्भावना है। निःसन्देह ‘ब्राह्मण’-कविता वैदिक-संस्कृति की अनुवृत्ति नहीं कर रही। ‘ब्रह्मसूत्र’ के ‘अपशूद्राधिकरण’ में व्यास और भाष्यकार ने साफ शब्दों में कहा है कि—

‘श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, स्मृतेश्च ।’

शूद्र के लिए वेद-श्रवण, वेदाध्ययन, वेदार्थज्ञान और तदनुसार आचार—आदि निषिद्ध हैं। वैसे तो इतिहास, पुराणों के द्वारा तद्विषयक विचारों को सुनाने का शास्त्रीय आदेश भी है

‘श्रावयेच्छतुरो वर्णान् ।’

इसीलिए शङ्कराचार्य ने सुस्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

‘वेदपूर्वकस्तु वास्यधिकारः शूद्राणाम् ।’

केवल वेद द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार शूद्र को नहीं है। यह बात भी अभिमान से नहीं कही गई है। समाज की सुव्यवस्था के लिए, वर्णाश्रम धर्म का सम्यक् रूप से परिपालन करने के लिए स्वयं ईश्वरकृत यह प्रविभाग है। भगवान् ने गीता में कहा है—

‘चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभाशः ।’

प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् गुण और कर्मों का सम्यक् विभाजन करते हुए स्वयं मैंने वैज्ञानिक रीति से, बहुत सोच-विचारकर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था की है। वेद में—

‘ब्राह्मणोऽस्य मुक्तमासीत् ।’

दो सौ सत्ताईस

प्राच्यसाहित्य

के रूपक द्वारा, सिर से पैर तक दुरुस्त, शृङ्खलित समाज का सङ्गठन ही बताया गया है। वह इसी नियम या शृङ्खला का फल था कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को सचाई से पूरा करता था और सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य फैला हुआ था। आज सर्व-वर्ण-समन्वय, या वर्णसाङ्कर्य का ही यह कुप्रभाव है कि सारा भारतवर्ष दुःख-दारिद्र्य में पड़ा 'त्राहि-त्राहि' कर रहा है। सब के सब—

‘श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥’

को भूल गये हैं। अस्तु। जिस कार्य को स्वयं भगवान् ने किया (मया सृष्टम्) था, आज उसे किसी भी समाज-विशेष का सदस्य कर सकने का दंभ दरसाता है।

इसी अनधिकार के कारण परम कारुणिक भगवान् श्री रामचन्द्र जी को तपस्या करते हुए शूद्र शम्बूक का वध करना पड़ा था। शम्बूक निश्चल तपस्वी था सही, पर उसे तपस्या करने का जन्मना अधिकार नहीं था। उसने जो ज्यादाती की थी उसे उसका दण्ड भोगना ही पड़ा था।

और शूद्रजाति में जा आत्म-ज्ञानी हुए हैं, उन्हें किसी आश्रम में वेदविद् ब्राह्मण के निकट जाने की आवश्यकता नहीं हुई। यहाँ उदाहरण में उनके नाम गिनाना अप्राकरणिक तथा व्यर्थ होगा।

जहाँ शूद्र की यह दशा है, वहाँ उस वर्णसङ्कर बालक को ब्राह्मण बनाने की प्रक्रिया तो निर्मूल तथा गलत ही होगी। रवि बाबू ने वैसा ही किया है।

इसी भौंति तत्त्वदर्शी डाक्टर भगवान् दास ने भी अपने ‘समन्वय’ में श्रुति-स्मृति-पुराणों के उद्धरणों का अपने कथन के समर्थन के अनुसार अनेकशः अभिप्राय निकाल लिया है। एक उद्धरण अप्रासङ्गिक न होगा।

उनके हृदय में सकल दर्शनों का निर्मल तत्त्व जब—‘अहम् एतत् न’ के रूप में उदित हुआ, तो उन्हें इसका पुष्टिकारक प्रमाण भी ‘प्रणववाद’ नामक एक अद्भुत-ग्रन्थ में प्राप्त हो गया। और यहाँ तक कि सभी शास्त्र एक स्वर से उन्हें—‘अहम् एतत् न’ कहते नजर आने लगे।

दो सौ अट्ठाईस

इसी प्रसङ्ग में अनेक उद्धरणों के साथ 'विष्णुपुराण' का यह एक श्लोक भी उन्होंने लिखा है—

‘अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो

नान्यत् ततः कारणकार्यजातम् ।

ईदृङ् मनो यस्य न तस्य भूयो

भवोज्जवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥’

इस पद्य के पूर्वाद्ध से ‘अहम्’, ‘इदं’ (एतत्) ‘न’ यह तीन पद पृथक् कर उन्होंने इसे अपने ‘तत्त्व’ का समर्थक सिद्ध किया है। साथ ही यह लिख देने की भी कृपा की है कि इसका अन्य अर्थ भी हो सकता है, किन्तु उससे उनका अभिमत नहीं सिद्ध होता है।

तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि अपने अभिमत की सिद्धि के लिए शास्त्र का अर्थ जैसा चाहे वैसा किया जा सकता है ! पर इस अतत्त्वदर्शी अल्पज्ञ का धृष्टताजन्य अपराध क्षम्य हो—इस श्लोक का ‘अन्य अर्थ भी नहीं’, ‘अन्य अर्थ ही’ है। इसमें कहा गया है कि जिसके मन में ऐसी भावना उदित हो जाय कि ‘मैं हरि हूँ, सकल-चराचर, दृश्यमान विश्वमात्र हरि ही है, हरि के अतिरिक्त और कहीं कुछ भी (कारण-कार्य्य) नहीं है’ तो फिर वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से परे हो जाता है।

यह भाव भी उपनिषद् के इन मन्त्रों—

‘यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवामूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥’

—ईशोपनिषद्, ६।७।

का अनुवाद मात्र ही है। इसका अर्थ किसी भी प्रकार ‘अहम् एतत् न’ नहीं हो सकता। प्रत्युत उस विष्णु-पुराण में (सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः) ‘यह सकल प्रपञ्च, मैं और वासुदेव सब एक ही हैं,’ इसी भावना के अनुशीलन का उपदेश दिया गया है।

यदि इतने बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि-महर्षियों की वाणी को आप नहीं मानेंगे तो फिर ऐसी आशा कैसे की जा सकती है कि

दो सौ उनतीस

प्राच्यसाहित्य

उनकी कही हुई बातें हमलोगों के लिए मान्य ही होंगी ? क्योंकि न्याय है कि—

‘यद् यदाचरति भ्रष्टस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥’

× × ×

‘महाजनो येन गतः स पन्थाः ।’

३

उपनिषद् के ‘बह्वहं परिचरन्ती’ (जिसका अर्थ शंकराचार्य ने ‘अनिश अतिथि-सत्कार आदि’ किया है) को रवि बाबू ने—

‘बौवने दारिद्र्यदुखे

बहु-परिचर्या करि’ पेयेछिनु तोरे

जन्मेछिस् भर्तृ-हीना जाबालार कोड़े ।’

के रूप में परिवर्तित कर दिया है। उपनिषद् में ‘बहु’ क्रिया-विशेषण है, जिससे उसका अर्थ निकलता है, बहुत सेवा करते रहने के कारण। किन्तु कविता में उसका प्रयोग वैसा नहीं है। वहाँ (बह्वी चासौ परिचर्या चेति) कर्मधारय भी नहीं, (बहूनां परिचर्या) तत्पुरुष समास है, जिसके ‘कदर्थ’ की पुष्टि में ‘दारिद्र्यदुखे’ एवं ‘भर्तृहीना’ शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु यदि वह वनवासिनी तपस्विनी नारी थी तो यह समझ में नहीं आता कि उसे तपोवन में इस प्रकार ‘बहु-परिचर्या’ का सुअवसर कैसे प्राप्त हो गया ? कैसे थे पतित उस तपोवन के तेजस्वी तपस्वी ? और सचमुच ही यदि वह ब्राह्मणी थी—जैसा कि गोत्र-विषयक प्रश्न से अनुमान किया जा सकता है, तब तो और भी ग्रन्थ उलभ जायगी।

ब्राह्मण तो जन्मजात दरिद्र होता ही था। फिर भी भौतिक सम्पत्ति से उसे कितनी वितृष्णा होती थी इसे कालिदास ने एक ही पद्य से दर्सा दिया है—

‘गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ।’

यति ब्राह्मण के लिए अन्नमय यज्ञ, अश्वमेध, गोमेध इसी आर्थिक दरिद्रता के कारण अनावश्यक समझा गया है।

दो सौ तीस

गीता में—

‘ब्रह्मव्यज्ञास्तपोयज्ञा योऽव्यज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यत्तयः संशितव्रताः ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणोऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणाध्यामपरायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते ब्रह्मविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥’

अध्याय ४, श्लोक २८।२९।३०

दरिद्रतावश उसी जाति की नारी से ऐसे कुकर्म की आशा उस जमाने में कैसे की जा सकती थी ?

हाँ, तो इस कविता में और कई बातें भी इसी प्रकार अस्वाभाविक हो गई हैं। मैं एक उदाहरण देकर इस अप्रिय प्रसंग से विराम ग्रहण करूँगा।

सन्ध्या समय जब सत्यकाम आश्रम में आता है, आश्रम के सभी ब्रह्मचारी सान्ध्य स्नान समाप्त कर, होमाग्नि के आलोक में गौतम ऋषि के कुटीर का प्राङ्गण घेरकर आसनोपविष्ट दृष्ट होते हैं। शिष्य-गण से फिर एकाएक प्रशान्त आश्रम चकित हो उठता है जब महर्षि गौतम उन्हें ब्रह्म-विद्या का श्रवण करने के लिए सावधान होने की आज्ञा देते हैं। यहाँ वक्तव्य यह है कि इस प्रकार ‘वत्सगण, ब्रह्मविद्या कहि, करो अवधान’ कहकर ब्रह्मविद्या बतलाने का विधान नहीं किया गया है। ब्रह्मविद्या (अध्यात्मविद्या) राजा भोज की कहानी नहीं कि उसे शिष्य की आग्रहपूर्ण जिज्ञासा या पात्रापात्र, योग्यायोग्य का विवेक किए बिना ही बतला दिया जाय। पुनश्च ‘ब्रह्मविद्या’ से जो प्रचलित अर्थ ‘वेद’ वैसे स्थान पर समझा जा सकता है उसका अध्यापन सन्ध्या-समय नहीं हुआ करता। फलतः वह अस्वाभाविक वर्णन ही कहा जायगा।

रवि बाबू ने अपनी अधिकांश अन्य रचनाओं में ऐसी निर्दोष सुषमा, इतनी सरस स्वाभाविकता दिखलाई है कि उनके समक्ष इसे सदोष तथा अस्वाभाविक कहने की धृष्टता की जा सकती है।

दो सौ इकतीस

प्राच्यसाहित्य

यों श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'द्वापर' में—'तत्रैका विधृता भर्त्रा, भगवन्तं यथाश्रुतम्, हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्।'—वाली यज्ञपत्नी के मरण से अशरण, निरुपाय होकर जिस प्रकार 'गवालबाल' के द्वारा उस ऋषि को यह ऐसी गालियाँ सुनवाकर कृतकृत्यता का अनुभव किया है—

‘हाय ! एक द्विज ने ‘दानव बन’
निज देवी को धर लिया;
कथा ‘चाण्डाल’ रूप धारण कर
कुछ न हमें देने दिया ।’

या, अपनी सुविख्यात ‘पञ्चवटी’ में—

‘कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कङ्कणे ।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥’

कहनेवाले भक्तप्रवर लक्ष्मण से जगज्जननी सीता माता के द्वारा जो ‘आदर्श’ पारहास कहवाया है, कि शूर्पणखा—

“देने ही आई है तुमको निज सर्वस्व विना संकोच ।
‘देने में’ कार्पण्य तुम्हें हो, तो ‘लेने में’ है क्या सोच ?”

उसकी तुलना में तो ‘ब्राह्मण’ ब्राह्मण है ही ।

नवम्बर '३६]

— — —

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की उपमाएँ

कवीन्द्र रवीन्द्र विश्व की उन विभूतियों में से एक हैं, जिनका परिपूर्ण परिचय प्राप्त करने पर ऐसा लगता है कि अमर भी मर-मरकर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं, खामोशी की जोरदार आवाज से संसार के सामने स्वर्ग को आसमान-सा असार साबित करते हुए। भारत ऐसे ही रत्नों को पाकर हमेशा से भारत रहा है, आज भी है, और साहित्य साहित्य। कालिदास के बाद भारत में अब तक कोई ऐसा विश्वजनीन कवि पैदा न हुआ जिसकी आवाज दुनिया के कोने-कोने ने सम-भाव से सुनी हो। निराला जी के शब्दों में रवीन्द्रनाथ बीस बड़े-बड़े कवियों का प्रबल बल आत्मसात् कर साहित्य-क्षेत्र में अग्रसर होनेवाले महाकाव्य हैं। आज हिन्दी के युगान्तरकारी साहित्य में नई-नई विशेषताओं की जितनी किस्में मौजूद हैं उन सब पर, गुप्त या प्रकट रूप से रवीन्द्रनाथ की पूरी-पूरी छाप है। वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ही भारतीय साहित्य-धारा की नवीनता के निर्माता हैं।

संस्कृत में 'उपमा कालिदासस्य' की बड़ी धूम है, और विचार करने पर यही बात सही भी जँचती है। कालिदास की उपमाएँ दिल पर जितना असर डालती हैं, जितना जीवन रखती हैं; जितनी बारीकियों से भरी-पूरी होती हैं, उतनी और किसी की नहीं। सौन्दर्याभिव्यक्ति की शक्ति, कालिदास की कमनीय काव्य-कला में जितनी उल्लेख्य है, उपमाओं की अनुपमता भी उतनी ही विवेचनीय। कालिदास आर्य्य-कवियों के प्रतिनिधि हैं।

पर मैं यहाँ कालिदास-से शक्तिशाली आर्य्यकवि रवीन्द्रनाथ की कुछ जानदार उपमाओं की ओर अनजान पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिनकी विशिष्टता सुस्पष्ट दृष्टि से देखने पर उन्हें आप अपनी तरफ झुका लेगी। रवीन्द्रनाथ की, सौन्दर्य परखने की

प्राच्यसाहित्य

बारीक नजर, सहृदयता की अजस्र रस सहस्र-स्रोतस्विनी, कल्पना की कमनीयता, आदि की तरह उपमाएँ भी अपना सानी नहीं रखती और इन सबके लोकोत्तर सामञ्जस्य ने, पीयूष-परिपाक ने, उनकी कविताओं को सँवारा है, सर्वश्रेष्ठ बनाया है।

जिन एक-दो फबीले गहनों से किसी रमणी की रमणीयता द्विगुणित होती दीख पड़ती है, कविता में उचित स्थान पर प्रयुक्त उपमादि की उपमा उन्हीं से दी जा सकती है, पर जहाँ तमाम अलङ्कारों को एक ही बन्ध में बाँधने का प्रबन्ध किया गया हो, अमीरी के जोश में आकर जहाँ एक-एक अङ्ग में अनेक-अनेक गहने, जितनी तरह के वे हो सकते हैं, पिन्हाए गये हों, कवित्व या कामिनीत्व अलङ्कारों के बोझ से झुक गया हो, पिस गया हो, वहाँ उन्हें भूषण नहीं दूषण ही कहना समुचित होगा। 'नमक सुलेमानी' के विज्ञापक 'जोकर' की सतरङ्गी पोशाक की तरह हास्योत्पादक मात्र। अश्वघोष और कालिदास के बाद संस्कृत-साहित्य में अलङ्कारों का बाजार कुछ ऐसा ही गर्म रहा है। व्रजभाषा का तो जिक्र भी अप्रासङ्गिक होगा। अवश्य कुछ को छोड़कर यह बात बताई जा रही है। पर कालिदास तथा रवीन्द्रनाथ की अधिकांश उपमाएँ अनुपम हैं, अन्य अलङ्कारों का सम्भार भी कविता को बहुमूल्य बनाने भर के लिए। जैसे—

‘किछु नाई, तबु आरपार देखो चाहि
अवगाहि हृदयेर सीमान्त अवधि
करह सन्धान, अन्तरेर प्रान्ते यदि
कोनो वाञ्छा थके, कुशोर अंकुर सम
बुद दष्टि-अगोचर, तबु तीक्ष्णतम।’

— विदाय अभिशाप

बृहस्पतिपुत्र कच के स्वर्गप्रत्यागमन के समय दैत्यगुरु शुक्र की कन्या देवयानी की उक्ति है। शुक्र से सखीवनी विद्या सीखकर कच स्वर्ग लौट रहा है, विदा माँगने के लिए गुरुपुत्री के पास गया है। वह कहती है—‘बड़ा अच्छा हुआ, सहस्र-वर्ष की दुस्साध्य साधना के अनन्तर तुम्हें अभिवाञ्छित सिद्धि प्राप्त हो गयी, अब तुम लौट रहे हो,

दो सौ चौतीस

पर जरा सोचकर देखो, अभी और कोई कामना तो तुम्हारे मन में नहीं ?'

वस्तुतः देवयानी के हृदय में कच की विकच दीप्ति ने घर कर लिया था, वह चाहती थी कि उससे कच प्रेम का प्रस्ताव करे और वह आत्मसमर्पण कर अपने सौभाग्य को सफल समझे, पर उसे ऐसा मौका न मिला। अनवरत साधना से परिपूर्ण कच के हृदय में अब इतना लुद्ध छिद्र भी कहाँ था, जहाँ उसके प्रेम-परमाणु को प्रसर प्राप्त होता ? उसने झटपट उत्तर दिया—'अब तो कोई भी कामना नहीं है।' पर प्रणय-विह्वला देवयानी इसी शुष्क उत्तर से कैसे सन्तुष्ट हो जाती ? वह उपरिलिखित पंक्तियों द्वारा अपनी व्याकुल स्नेह-पिपासा व्यक्त कर रही है—'कुछ भी नहीं ! तो भी जरा अपने हृदय का अन्तिम स्तर छूकर देखो, शायद कोई छोटी-सी कामना वहाँ छुपी हो, कुश के बाराक, लेकिन तीखे अंकुर के समान।' हृदय के किसी एकान्त कोने में ही तो प्रणय का नुकीला और बारीक अंकुर भी छुपा हो सकता है। प्रणयांकुर के नुकीलेपन में सन्देह की कोई गुञ्जायश हो ही नहीं सकती। अध्ययनशील पाठक देखें, इस उपयुक्त उपमा के द्वारा भावना की ऊँचाई को कितना ऊँचा उठाया जा रहा है, कैसी भोली भावुकता भरी हुई है इसमें ! पर इसमें भी अधिक उसका औचित्य या सूपयुक्तता की जाँच के लिए यहाँ इसके मुकाबले कालिदास की एक उपमा पेश करता हूँ—

‘शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन् आभासि तीर्थप्रतिपादितद्धिः ।

आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥’

महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स, महाराज रघु के दरबार में गुरुदक्षिणा के लिए चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ माँगने आया हुआ है, तब तक विश्वविजय के उपरान्त रघु अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर चुके हैं। यहाँ अतिथि-सत्कार के लिए मिट्टी के बर्तन में पानी आया हुआ देख वह अकचका कर चला जाना चाहता है, पर रघु की उदारतापूर्ण आग्रह की बातें सुनकर क्षण भर ठहरने को विवश होकर ऊपर की पंक्तियाँ कहता है कि—‘हे राजन्. योग्य-योग्य व्यक्तियों में अपनी प्रभूत विभूतियों का वितरण कर, ऋषि-महर्षियों

प्राच्यसाहित्य

के द्वारा बालियाँ बीन लेने पर केवल धड़ के बल खड़े नीवार की तरह, अब तो आप देह भर से राजा रह गये हैं।' नीवार या किसी भी शस्यविशेष की सुषमा उसके फलों पर ही निर्भर करती है, फल निकल जाने के बाद केवल ढण्ठल समग्र फल-सम्पत्ति लुटा देने वाले महाराज रघु से कैसी असमान समानता रखता है! दोनों ने ही अपनी फल-सम्पत्ति का योग्यों ('तीर्थ' और 'आरण्यक' दोनों शब्दों से यही व्यक्त होता है) में वितरण कर सदुपयोग किया है, दोनों ही सफल फलवाले हैं। पर इस उपमा की सूक्ष्म विशेषता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती।

जब कवि स्वयं वक्ता होता है, तब उसे अपनी इच्छा के अनुसार वर्णन करने की कुछ अधिक स्वतन्त्रता रहती है, पर जब वक्ता कवि-कल्पित कोई अन्य व्यक्ति होता है तब उसे उसकी योग्यता, औचित्य आदि की अपेक्षा करना आवश्यक हो जाता है यही कारण है कि भीम के मुँह से सरस या विनय-गर्भित मधुर-कोमल बातें कहलाने से (यद्यपि समय विशेष पर इसकी भी सम्भावना हो सकती है) कविता-श्री परिम्लान मालूम पड़ने लगती है। हालाँकि कवियों ने उच्छृङ्खलतावश सब किस्म की गलतियाँ की हैं, पर एक कलाकार के लिए वे गलतियाँ गुण तो कहला नहीं सकतीं (यह ठीक है कि वे उनकी अलौकिक गुणगरिमा से कुछ दबी-सी रहती हैं)। विशेषतया तब, जब कि कालिदास वगैरह ने इधर भी काफी ध्यान रक्खा है। हाँ, तो इस जगह कालिदास ने शिष्य के मुँह से और तरह की कोई उपमा न दिला कर अपनी उच्च कलाप्रियता व्यक्त की है, क्योंकि वह बेचारा बनवासी तपस्वी अपनी आँखों बिना बाली-वाला 'नीवार' बहुत बार देख चुका है, उसके मुँह से जैसे स्वभावतः अनुभूतिवश, वह उपमा आप कढ़ गई है, गढ़ी नहीं गई है। उस बनवासी के मुख से वह वन्य उपमा कैसी नागरिकतापूर्ण प्रतीत होती है, कितनी सुन्दर! यही है—'उपमा कालिदासस्य।'

यही बात रवीन्द्र-वाली उपमा में भी है। देवयानी विजन-बनवासिनी है। अतएव उसे कुश के तीखेपन की पहिचान, सुकोमल होने के कारण हमेशा हुई होगी, फिर उसके मुख से उसी अनुभूतिपूर्ण

दो सौ छत्तीस

वस्तु की उपमा कितनी फबती हुई मालूम पड़ती है। वस्तुतः यह कुशांकुर-वाली उपमा भी कुशांकुर की ही तरह चोखी उतरी है, सीधे हृदय में चुभ जाती है। आज देवयानी के हृदय में वह 'लुद्र' कामना उसी अंकुर की तरह चुभी हुई है, जिसे कच के प्रकाश-भास्कर नयन प्रयास करने पर भी नहीं देख पाते, इसलिए 'कामः स्वतां पश्यति' के अनुसार उसे कच को दिल टटोलने के लिए बार-बार कहना पड़ रहा है। आगे चलकर कवि ने, कच को पिछली बातें याद दिलाते समय उसके मुख से उसकी आवास-भूमि अरण्य-प्रकृति का बड़ा ही वरेण्य वर्णन करवाया है—

‘सुन्दरी अरण्यभूमि सहस्र - वत्सर
दिए छे वल्लभ छाया तरु मर्मर
शुनाएछे विहङ्ग कूजन, - ता’रे आजि
एतई सहजे छेड़े याबे ? तरु-राजि
म्लान ह’ये आछे येन, हेर आजिकार
वनच्छाया गाढ़तर शोके अन्धकार,
केंदे उठे वायु, शुष्क पत्र झरे पड़े’

कालिदास ने भी शकुन्तला की विदाई के वक्त प्रियंवदा के मुख से इतनी ही खूबसूरत बात कहलाई है—

‘न केवलं त्वमेव तपोवनविरहकातरा, त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि
अवस्थां प्रेक्षस्व तावत् —

उद्गर्णदभंकवला मृगी, परित्यक्तनर्णना मयूरी
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रु इव लताः ।’

‘तुमि शुधु च’ले याबे सहास्य अधरे
निशान्तेर सुख-स्वप्न सम ?’

यहाँ भी प्रकृति की इस विकलता का बखान करते हुए देवयानी कहती है—‘और तुम मुस्कराते हुए चुपचाप सुबह के मीठे सपने की तरह चले जाओगे ?’ ‘यहाँ सहास्य अधरें’ के द्वारा, कच की सहृदयता के प्रति जितना गूढ़ और कटु व्यंग्य किया गया है, उतनी ही स्फुट

प्राच्यसाहित्य

तथा मधुर उपमा दी गई है—‘निशान्तेर सुख-स्वप्न सम ।’ एक तो स्वप्न स्वयं सुमधुर है, फिर ‘निशान्त’ के कोमल-कान्त ‘सुख’ के सपने का क्या कहना है ? उतना ही छबीला, उतना ही फबीला और उतना ही मधुर, देवयानी की सतृष्ण आँखों में है कच, जो अब सचमुच स्वप्न ही की तरह ओमल हुआ चाहता है । उफ ! उस दुःख का क्या ठिकाना, ‘सुख’ का ही जब जाना ठहरा, बेचारी क्यों न बेकल हो जाय ! कैसी कोमल भावना की कितनी कोमल उपमा !

उपमाओं की उपयोगिता चमत्कृत करने से अधिक प्रभावित करने में है । जहाँ ‘शेली’ ने—

‘May have broken the woof of my tent's thin roof,

The stars peep behind her and peer;
And I laugh to see them whirl and flee,
Like a swarm of golden bees.’

कहा है, वहाँ हम इस कल्पना-पूर्ण उपमा से चमत्कृत ही अधिक होते हैं, पर जहाँ उसी ने—

‘Like a poet hidden
in the light of thought,
Singing hymns unbidden,’

या—

‘Around its unexpanded buds;
Like many a voice of one delight.’

आदि भावुकता-भरी उपमाएँ दी हैं, वहाँ हम गद्गद हुए बिना रह नहीं सकते । भारतीय, खास तौर से कालिदासीय, उपमाओं में इसी शक्ति की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है । रवीन्द्रनाथ का भी इसी प्रकार का प्रदर्शन प्रशंसनीय है ।

२—मैं पहले ही लिख चुका हूँ, उचित स्थान का एक ही ‘अलङ्कार’ अनेक अच्छे-अच्छे अलङ्कारों की जगमगाहट ला देता है, अब यहीं दो सौ अड़तीस

कवि की अकृतमन्दी देखनी होती है कि वह अलंकारों का 'कैटलाग' ही तैयार करना जानता है या उन्हें सजाने की तमीज भी रखता है। पिछले उदाहरण में उपमा के द्वारा भावना के उत्कर्ष की बात बतलाई जा चुकी है, अबके उसके उसी किस्म के एक शिल्प का, कुछ नवीनता के साथ, नमूना दे रहा हूँ—

‘तुमि सद्य स्नान करि
दीर्घ आद्र’ केशजाळे, नवशुक्राग्वरी
ज्योतिस्नात मूर्तिमती उषा, छाते साजि
एकाकी तुलितेछिले नव पुष्पराजि
पूजार लागिया ।’

कच कहता है—‘हाँ, मुझे आज भी याद है, उस दिन तुम तुरत नहाकर, नई उजली साड़ी पहने, ज्योतिस्नात साक्षात् उषा के समान, हाथ में फूल-ढाली लिए पूजा के लिए तुरत के खिले फूल तोड़ रही थीं, तुम्हारी लम्बी केशराशि अभी गीली ही थी और तुम अकेली थीं ।’

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि कच के मन में किसी भी प्रकार की क्लुषित वासना नहीं है, उसे देवयानी अब भी देवी ही मालूम पड़ रही है फिर यह चारु चर्चा तो प्रथम दिवस की है, इसलिए उसके पवित्र मानस के अनुरूप गजब की उपमा भी निकलती है—ज्योतिःस्नात मूर्तिमती उषा की तरह। इससे देवयानी के अलौकिक-लावण्य की ललित कल्पना भी सहज ही की जा सकती है—और जिस प्रकार इस उपमा से कच के हृदय की पवित्रता व्यक्त हो रही है, उसी प्रकार यह देवयानी को भी परम-पवित्र देवी बना रही है। इसी उभयपाक्षिक सौन्दर्य की झलक में इस उपमा को अलौकिक बना दिया है। यही सौन्दर्य निराला जी की—

‘वह सुरसरिता सैकत-सी गोरी बाजा’

में अङ्कित है। यह एक ही उपमा वाला की गुराई और पवित्रता साथ ही कवि-हृदय की निष्कलमषता का भी अभिव्यञ्जन कर रही है और सीधे ‘गङ्गा’ न कहकर ‘सुरसरिता’ का प्रयोग इस पावन-भावना की परिपुष्टि। इसी प्रकार ‘विधवा’ कविता में निरालाजी ने ‘वह दीपशिखा-

सी शान्त' लिखकर द्विगुणित सौन्दर्य झलकाया है। कवि विधवा की तुलना दीप-शिखा से सिर्फ शान्ति-समानधर्म की वजह से कर रहा है, पर उसकी (विधवा की) रूप की आग और अन्तर्ज्वाला आदि उपमा की अलौकिकता के कारण आप अनुमित हो जाते हैं। उपयुक्त स्थान में प्रयोग की ही यह सफलता है।

३—'अन्धकार राक्षस' थाके अन्ध सरीसृप

आपना ललाटे रतन-प्रदीप

नाहीं जाने नाहीं जाने सूर्यालोक-लेश !

तेमनि आँधारे आछे एई अन्ध देश

हे दण्डविधाता राजा,—ए दीप्त रतन

पराये दिपछे भाले ताहार यतन

नाहीं जाने, नाहीं जाने तोमार आलोक !

—नैवेद्य

कवि देश की वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराता है कि 'जिस प्रकार अँधेरे गड्ढे में पड़े साँप को उसी के माथे की मणि की चमक का कोई पता नहीं रहता और बाहरी सूरज की चारों ओर फैली रोशनी के ज़रों का भी उसे कोई अन्दाज नहीं होता, उसी प्रकार आज हमारा देश भी अँधेरे में पड़ा हुआ है, हे दण्डविधाता [यह विशेषण जैसे देश की बढ़ी मूर्खता को और बढ़ा देता है, अभिप्राय है कि यद्यपि इसे (देश को) मालूम है कि इस बेवकूफी का दण्ड (जिसे तुम जरूर दोगे) भुगतना ही पड़ेगा, तो भी वह भूला हुआ है] तुमने जो दीप्त-मणि उसके ललाटपट्ट पर अङ्कित की है, उसकी इज्जत करना उसे आता ही नहीं और न उसे तुम्हारे प्रकाश का ही कुछ अता-पता है ! इस उपमा से भी कोई प्रभावित हुए बगैर न रहेगा—अज्ञानगर्त में गिरे, पड़े, आत्म-ज्ञान-शून्य देश की तुलना अन्ध सरीसृप से बढ़ी ही खूबसूरत बन पड़ी है। सर्प की उपमा विविध-भङ्गियों के साथ विविध स्थानों पर रवीन्द्रनाथ ने दी है। कहना न होगा, सर्वत्र विविध-सौन्दर्य का प्रदर्शन भी हुआ है। जैसे 'उर्वशी' कविता में—

'वरजित महासिन्धु, मन्त्र-शान्त भुजङ्गेर मत

पड़े छिन्नो पदप्रान्ते, उच्छ्वसित फण्या खच्च शत करि अवनत ।'

दो सौ चालीस

यहाँ तरङ्गायित सिन्धु की लक्ष फणाधर फणी के साथ तुलना अत्यधिक सौन्दर्य-समवेत हुई है ।

‘वृन्तहीन पुष्प-सम आपनाते आपनी विकशि
कबे तुमि फुटिले उर्वशी !’

चूँकि उर्वशी का सौन्दर्य क्रमशः विकासोन्मुख नहीं रहा, किन्तु प्रारम्भ से ही सौन्दर्य की प्रौढ़ि लिए हुए है, इसलिए उसकी उपमा बिना ढण्ठल के फूल से दी जा रही है, क्योंकि ढण्ठलवाले फूल तो निस्सन्देह कोरक से कुसुम की ओर बढ़ते दृष्टिगोचर होते हैं । और फूल, कोंपल आदि की उपमा भी रूप के लिए, कालिदास-काल से ही मशहूर है—

‘अनाघ्रातं पुष्पं क्लिप्तलयमलूनं करुहैः ।’

फिर ‘फुटिले’ कहकर तो उसका पूर्ण कुसुम-रूपत्व ही जैसे स्फुटित किया गया है ।

‘द्विधाय जडितपदे कम्प वक्षे, नम्र नेत्रपाते,
स्मितहास्ये नाहि चलो सलज्जित वामरशब्दाते
स्तब्ध अर्द्धराते, उषार उदय-सम अनवगुण्डिता,
तुमि अकुण्डिता !’

यहाँ भी ‘उषा’ के उदय के समान उसका (उर्वशी) अनवगुण्डित होना कमाल कर रहा है । उषा-सा विश्वजनीन सौन्दर्य-उर्वशी का भी है, उषा की तरह उसके सौन्दर्य का भी विश्व, समान-रूप से निरीक्षण कर सकता है, और वह भी उषा की ही तरह अलौकिक है ।

इस तरह की उपमाओं की सरस राशियाँ रवीन्द्र-साहित्य में भरी पड़ी हैं । मेरा उद्देश्य तो इस छोटे-से लेख में उस सौन्दर्य सिन्धु का एक छींटा ही दिखाना है, आगे कभी मैं ‘उपमा कालिदासस्य’ नामक लेख में शेली और रवीन्द्र की उपमाओं की विशद विवेचना करने की कोशिश करूँगा ।

प्राच्यसाहित्य

इन उदाहृत उपमाओं में भारतीय दृष्टि से कुछ-न-कुछ कमजोरियाँ भी अवश्य अवगत होती हैं, पर यहाँ उनका दिग्दर्शन अरोचक तथा अप्रासङ्गिक होगा, लेख की कलेवर-वृद्धि भी होगी। रवीन्द्र तथा कालिदास आदि भारतीय साहित्य के प्रतीक ही हैं। इन अलङ्कारों से साहित्य की पर्याप्त श्री-वृद्धि हुई है। नहीं तो 'पन्त' जी की तरह शतशः 'सा-सा, सी-सी' करने भर से किसी आन्तरिक आनन्द का उद्रेक नहीं होता, किसी भाव की सुन्दर मूर्ति सामने नहीं आती, उन्हें मैं 'उपमा' मानता हुआ भी 'उपमा-अलङ्कार' नहीं मानता, यद्यपि वे हिन्दी के दरिद्र भण्डार में अलङ्कार के ही नाम से संगृहीत हुए हैं।

अप्रैल '३६]

—

काव्य तथा काव्यालोचन की सीमाएँ

काव्य तथा काव्यालोचन के स्वरूप में एकरूपता नहीं पाई जाती, इसके अनेक कारण हैं। प्रत्येक कवि जीवन तथा जगत् को एक ही दृष्टि से नहीं ग्रहण करता; प्रत्येक आलोचक सत्याग्रही ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में स्वयं कवि की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं के परिचय से लाभान्वित होने की सम्भावना है। यहाँ ग्वालिन के अपने दही के खट्टा न कहने की बात नहीं उठती, क्योंकि कवि की काव्य-विषयक मान्यता का अर्थ उसकी गर्वोक्ति या आत्मश्लाघा न होकर काव्य-तत्त्व की गहराइयों में उसकी पैठ भर है। सम्भव है, कवि के काव्य से उसकी काव्य-सम्बन्धी धारणा अधिक अभिनन्दनीय हो। कारण, सत्य का साक्षात्कार और जीवन में उसका उपयोग सदा समकालीन ही नहीं होते। भारतेन्दु-युग की कृतियों में हास्य-व्यंग्य, चुहल-कौतूहल को प्राणवत्ता का प्रमाण माननेवाले स्वयं समुद्र-से गम्भीर हो सकते हैं।

किसी भी कवि का काव्य पढ़ने पर ऐसा नहीं हो सकता कि हमारी काव्य-सम्बन्धी पूर्वाग्रह-वर्जित मान्यता सर्वथा निष्कम्प रह जाय। यहाँ हम तात्कालिक विचार-विक्षोभ की बात कह रहे हैं, जल्दी-जल्दी मान्यताओं के परिवर्तित होते रहने को शोभनीय नहीं बता रहे। 'ऐसा होना चाहिए या न होना चाहिए', इसे छोड़कर 'ऐसा होता है' यह कह रहे हैं। 'पल्लव' तथा 'साकेत' पढ़कर काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चित विकल्प होगा। यहाँ पूर्वाग्रही या सुदृढ़ आस्थावान व्यक्ति एक को काव्य तथा दूसरे को अकाव्य कहकर निश्चिन्त हो जा सकता है अथवा श्रेणी-भेद द्वारा दोनों के लिए अवकाश निकाल ले सकता है; किन्तु तब भी सामान्य रूप में यह होगा ही कि उसकी मान्यता को चुनौती देनेवाला कोई-न-कोई काव्य उसके सामने से गुजरे।

और तो और, कालिदास-जैसे सर्वमान्य विश्वकवि के काव्य-नाटकों को भी एक ही मान्यता से महत्त्व नहीं प्रदान किया जाता।

जिन्होंने उनकी कृतियों में मेघदूत और शकुन्तला को महत्तम मान लिया है, वे ही सबसे बड़े मर्मज्ञ नहीं हैं और जो विद्वत्समुदाय रघुवंश को उनकी परम प्रौढ़ कृति मानता आया है, वह असहृदय भी नहीं है। इसी प्रकार कुमारसम्भव जिन्हें मधु क्षरित करता सिन्धु जान पड़ता है या जहाँ अरविन्द-सरीखा योगिराज ऋतुसंहार की प्रशंसा करते नहीं थकता, वहाँ किसी की योग्यता पर उँगली नहीं उठाई जा सकती, वहाँ मान्यता-भेद से ही समाधान प्राप्त हो सकता है।

मैं इससे एक ही निष्कर्ष निकालता हूँ कि काव्य तथा काव्यालोचन-सम्बन्धी कोई भी मान्यता सर्वथा निर्दोष नहीं है। देश-काल के अनुसार उसमें सर्वदा संशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन की आवश्यकता बनी रहती है और यह भी कि सञ्चित ज्ञान ही सब समय काव्यालोचन में सहायक नहीं होता। कभी-कभी तात्कालिक स्फुरण भी एक ऐसा आलोक बिखेर सकता है जो चकरदार पद्धतियों की अपेक्षा कवि के क्षितिज तक पहुँचनेवाला ऋजुतम पथ सहसा प्रदर्शित कर दे। कभी-कभी आवेष्टन के परिवर्तन, विप्लव-विक्षोभ आदि भी अपनी अपेक्षा में एक सर्वथा नवीन को ला खड़ा कर सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि संबुद्धि और अभिज्ञता—दोनों से क्रान्ति होते रहने की सम्भावना है और यह कभी न समाप्त होनेवाली गति-प्रगति है। ऐसे में यह जानकारी बुरी तो नहीं कि कवीन्द्र रवीन्द्र वाल्मीकि, व्यास, होमर और दान्ते को ही महाकवि मानते हैं। श्री अरविन्द वाल्मीकि को शेक्सपियर का समकक्ष मानते हैं, कालिदास को नहीं। वंकिम बाबू को कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग की कोटि की कविता विश्व-साहित्य में कहीं नहीं मिली। जर्मन कवि गेटे ने शकुन्तला के लिए लिखा—

‘Wouldst thou the young year’s blossoms and the
fruits of its decline.

And all by which the soul is charmed, enraptured,
feasted, fed ?

Wouldst thou the earth and heaven itself in one
sole name combine ?

दो सौ चौवालीस

काव्य तथा काव्यालोचन की सीमाएँ

I name thee, O Shakuntala, and all at once is said.'
 एजरा पाउण्ड की दृष्टि में दान्ते और शेक्सपियर से चौसर का अधिक महत्त्व है—

'Chaucer had a deeper knowledge of life than Shakespeare.'

×

×

×

'Chaucer's culture was wider than Dante's, Petrarch is immeasurably inferior to both. You would not be far out if you chose to consider Chaucer as the father of 'Litterae humaniores' for Europe.'

पैरेडाइज लॉस्ट के सम्बन्ध में वाल्टेयर, मेकाले और एम्० एडमण्ड शेरर एकमत नहीं हैं। एडिशन, जान्सन, कालरिज, आर्नल्ड—सब समान स्तर के समीक्षक नहीं हैं। शेक्सपियर का अध्ययन कालरिज और टी० एस्० एलियट ने एक ही प्रकार से नहीं प्रस्तुत किया है, जब भी परिणाम में शेक्सपियर का महत्त्व अलुण्ण रहता है। पोप की मान्यता से बर्हसवर्थ और बर्हसवर्थ की मान्यता से पोप का अध्ययन करने पर दोनों के काव्यात्मक मूल्यों में सुस्पष्ट विभेद दृष्टिगोचर होगा। ए० डब्ल्यू० वार्ड का विचार है कि—

'The time has gone by for Pope to be ranked among the master-geniuses of our literature.'

कालिदास के लिए बाणभट्ट ने लिखा है—

‘निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।

प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥’

और काव्य तथा सूक्ति का भेद बतलाते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

‘जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।’

दो सौ पैंतालीस

प्राच्यसाहित्य

प्रत्यक्ष है कि वाण ने 'सूक्तिषु' का प्रयोग 'आचार्य' के अर्थ में नहीं किया होगा !

कोई कहे कि इन उच्छिष्ट सम्मतियों या निष्कर्षों से मन के पूर्वाग्रही हो जाने पर काव्य के मौलिक रसास्वाद से वंचित रह जाने की आशंका है तो इसे कौन अस्वीकृत करेगा ? आई० ए० रिचार्ड्स के 'Principle of literary criticism' या 'Practical criticism' पढ़कर हिन्दी के किस आलोचक का चित्त अप्रभावित रहा ? आज की आलोचना में J. E. Spingarn के 'A History of literary criticism in the renaissance' के अनुरणन सुनाई पड़ते हैं या टी० एस्० एलियट के 'सेलेब्रेट एसेज' अथवा 'सेलेब्रेट वुड' के या जॉर्ज लुक्स के 'Studies in European realism' में किए गए बालज़क, स्टेंडल, जोला, टाल्स्टाय, गोर्की आदि के अध्ययन के या क्लीन्थ ब्रूक्स के 'Modern Poetry and the tradition' के, इसकी छानबीन से क्या लाभ ? लाभ अभिज्ञता का प्रस्तार ही हो सकता है या वैज्ञानिक विवेचन के निर्दोषतम पथ के सन्धान का प्रयास मात्र ! क्योंकि काव्यालोचन को आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति का प्रकार-विशेष मानना सरासर संभ्रम होगा । इसी प्रकार स्वदेशी आलोचना को विदेशी विचार-सरणियों की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से वधिर मानना भी अनुचित होगा ।

काव्य यदि उपलब्धि है तो उसका आलोचन वाचाल कैसे होगा ? 'वैशेषिक दर्शन' 'अभाव' को भी एक 'पदार्थ' मानता है, ऐसी स्थिति में कवि के 'भाव' को 'अपदार्थ' बताना सामान्य नयन-निमीलनमात्र कैसे समझा जायगा ? फिर उसे व्यक्तित्व की सीमाओं में से हो या सामाजिक, मनोवैज्ञानिक किंवा दार्शनिक परिवेश में से हो, उपलब्ध करना ही होगा । यह कर्म कितना गहन है, यहाँ एक कवि एवं आचार्य श्री मंखक के माध्यम से समझने का प्रयास किया जा रहा है ।

(२)

कश्मीर में राजा जयसिंह के समय में श्री मङ्गक नामक एक महाकवि हुए हैं । जयसिंह का राज्य-काल ई० सन् ११२७ से ११४६ तक माना जाता है । इस समय कश्मीर में कितने ही विद्वान् और

दो सौ छियालीस

कवि थे जिनमें 'राजतरङ्गिणी' के निर्माता महाकवि कल्हण सर्वाधिक सुप्रसिद्ध हुए।

श्री मङ्गक ने 'श्रीकण्ठचरित' नामक पच्चीस सर्गों का एक महाकाव्य लिखा है जो अपनी प्रौढ़ि के लिए पण्डित-मण्डली में परम प्रख्यात है।

तत्कालीन परम्परा के अनुसार उन्होंने श्रीकण्ठचरित के दूसरे सर्ग में दुर्जन की निन्दा और सज्जनों की वैसी ही स्तुति की है जैसी सुबन्धु ने वासवदत्ता में, बाण ने कादम्बरी में या गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित-मानस में। वस्तुतः, ये सुजन-दुर्जन वे रसज्ञ तथा नीरस जन होते थे जो काव्य का मर्म समझकर उसकी सहृदय समीक्षा या न समझने के कारण उसकी कटु आलोचना करते थे। ऐसों को ही लक्ष्य कर अपनी-अपनी कृति के आरम्भ में कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। असहृदयों पर उनका सबसे बड़ा आरोप यही होता है कि वे बिच्छू का भी मन्त्र नहीं जानते, किन्तु साँप के बिल में हाथ डालने का दुस्साहस करते हैं। काव्य का तत्त्वज्ञ होना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है। क्योंकि—

‘मज्जन - फल पेखिय तत्काला,

काक होहिं पिक, बकहिं मगाला !’

रस-सिन्धु में निमज्जन करनेवाले काँव-काँव नहीं करते, उनकी काकली से तो अमृत छहरता है !

हाँ, तो श्री मङ्गक ने जिन शब्दों में इस प्रसंग को साकार किया है वह उसके उदात्त कवित्व के ही नहीं, गहरी काव्य-विदग्धता के भी परिचायक हैं। उनसे काव्य-कला पर मार्मिक प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक सहृदय को उनसे काव्य-कला तथा काव्यालोचन की मर्यादा की थोड़ी-बहुत शिक्षा मिलती है।

श्री मङ्गक कहते हैं—

‘वितीर्णशिखा इव हृत्पदस्थ-

सरस्वती - वाहन - राजहंसैः ।

ये क्षीर - नीर - प्रविभागा - दक्षा

विवेकिनस्ते कवयो जयन्ति ॥’

वे कवि तथा काव्य-मर्मज्ञ धन्य हैं जिनके विवेक होता है; जो गुण-दोष के ग्रहण-वर्जन की शक्ति रखते हैं—‘सन्त हंस गुण गहहिं पय,

दो सौ सैंतालीस

प्राच्यसाहित्य

परिहरि वारि-विकार; जिनके क्षीर-नीर बिलगाने का कौशल देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनके हृदय में नित्य विराजनेवाली सरस्वती के वाहन राजहंसों ने ही उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दे रखी हो !

जिसके हृदय में सरस्वती का अधिवास होता है उसे ही उपर्युक्त प्रकार का विवेक प्राप्त होता है और वही रसास्वाद में समर्थ भी होता है। इतर आलोचक तो केवल दोष ढूँढ़-ढूँढ़कर परिश्रान्त हो जाते हैं।

‘कस्यापि शक्तिप्रभवात् प्रभावा-

दुदेति तत्काव्यमहारहस्यम् ।

क्लिष्टो गुरुणां सदनेषु नित्यं

कश्चिद् बुभुक्षेत्तयते न वा यत् ॥’

विमर्श की शक्ति सबके नहीं होती। जिसके होती है, केवल वही काव्य के महान् रहस्य को उद्घाटित कर सकता है। गुरु-गृह में निरन्तर अभ्यास करनेवाला शास्त्रज्ञ भी, उक्त शक्ति के अभाव में, काव्य की मर्मज्ञता का दावा नहीं कर सकता।

कुछ इसी ‘टोन’ में दण्डी ने कवि की सहजता का वर्णन किया है—

‘काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।’

‘अज्ञात - पाण्डित्य - रहस्यमुद्रा

ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम् ।

ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान्

हालाहलास्वादनमारभन्ते ॥’

महाकवि मङ्गक कहते हैं कि पाण्डित्य के रहस्य की मुद्रा (सहृदयता के तत्त्व) से परिचित हुए बिना ही जो काव्यज्ञता का अभिमान करते हैं वे जैसे गरुड़-तन्त्रोक्त मन्त्रों को बिना जाने हलाहल का आस्वादन आरम्भ कर देते हैं। बिना ज्ञान के काव्य का व्यसन वैसा ही है जैसा मन्त्र न जानने पर भी विष-पान का साहस।

उपर्युक्त पद्य काव्यालोचक की भाँति कवि पर भी लागू होते हैं, तब इनका अर्थ क्रमशः यह समझना चाहिए कि कवि को सरस्वती के प्रसाद से स्वतः सत्य, शिव, सुन्दर की संबुद्धि होती है; कि कवि जन्मजात ही होता है, अभ्यास करते-करते कवि होने की सम्भावना

दो सौ अड़तालीस

काव्य तथा काव्यालोचन की सीमाएँ

कम रहती है कि इतने पर भी यदि कोई कवि होने का अभिमान करता है तो वह अमरता के लोभ में आत्म-हत्या ही करता है।

‘विना न साहित्यविदा परत्र

गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम् ।

आलम्बते

तत्क्षणमम्भसीव

विस्तारमन्यत्र न तैब्विन्दुः ॥’

महाकवि मंखक कहते हैं कि तत्त्वज्ञ काव्यालोचक के विना कवि की विशेषता नहीं प्रकाशित होती। एक बूँद तेल यदि पानी पर टपक जाय तो वह पूरी सतह पर फैल जाता है—उसकी चिकनाई सबकी आँखों में चमक उठती है; किन्तु रेत पर तेल भर-भाँड़ औंध देने से भी कोई लाभ नहीं, वह वहीं का वहीं सूख जाता है।

‘सरस्वतीमातुरभूषिचरं न यः

कवित्वपाणिढ्यधयस्तनन्धयः ।

कथं स सर्वागमनाससौष्ठवो

दिनाहिनं प्रौढिविशेषमरनुते ॥’

जिस कवि ने माता सरस्वती के कवित्व और पाणिढ्य से भरे हुए स्तनों का छककर पान नहीं किया, उसका काव्य भला कैसे सर्वाङ्ग-सुन्दर होगा और किस प्रकार दिन-प्रति-दिन प्रौढ़-पुष्ट हो सवेगा ?

कहने का तात्पर्य यह कि जिसने बहुत दिनों तक माँ का स्तन्य-पान नहीं किया, वह क्या स्वाक प्रगल्भ होगा ? प्रौढ़ि उसी कवि के काव्य में उपलब्ध होती है जो विद्वान् भी होता है। अतीत के माघ, मुरारि, मिल्टन और माइकेल को छोड़ देने पर भी वर्तमान युग के निराला की प्रौढ़ि को प्रमाण-स्वरूप प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

‘नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षां

ज्ञातुं मितस्थ महत्तश्च कवेर्विशेषः ।

को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण

भेदेन वेत्ति शिखिदीपमग्निप्रदीपौ ॥’

खरी परख के विना कच्चे और पके का भेद नहीं मालूम किया जा सकता। तुक पर तुक बैठा लेनेवाले बहुत हैं, पर महान् तो कोई बिरला ही होता है।

दो सौ उनचास

(३)

अब जब 'Four quartets' पढ़ने बैठा हूँ, मंखक की चेतावनी तर्जनी उँगली उठाए दिख रही है। मैं पढ़ रहा हूँ—

'Human kind cannot bear very much reality.

× × ×

Only through time time is couquered.

× × ×

Words move, music moves

Only in time; but that which is only living can only die.'

'East coker' का तृतीय अंश सारा-का-सारा बड़ा ही शक्तिशाली प्रतीत हो रहा है; कुछ पंक्तियाँ तत्काल मर्म को बेध देती हैं—

'I said to my soul, be still, and let the dark which shall be the darkness of God. As, in a theatre, come upon you. The lights are extinguished, for the scene to be changed with a hollow rumble of wings, with a movement of darkness on darkness,.....'

I said to my soul, be still, and wait without hope for hope would be hope for the wrong thing;.....

And what you do not know is the only thing you know.....

And what you own is what you do not own

And where you are is where you are not.'

ये अन्तिम पंक्तियाँ क्या भर्तृहरि के 'यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्' से मिलती-जुलती हैं ? क्या उपनिषद् के 'यस्यामतं तस्य मतं' से उत्प्रेरित हैं ? पर इनके विधायक तत्त्व तो दूमरे प्रतीत होते हैं ! इनसे विभिन्न रस-भाव का बोध होता है ! तो क्या 'वेस्ट लैण्ड' और 'फोर क्वार्टेट्स' को प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रियात्मक प्रक्रियाओं में से ही समझना होगा ? क्या देश-काल से उत्प्रेरित होने का अर्थ

उन्हीं की सीमाओं से बँध जाना होता है ? पाण्डित्य को इस प्रकार तैमूरलंग बनाने से क्या लाभ ?

कहीं ऐसा तो नहीं कि काव्य तथा काव्यालोचन का परला सिरा अब भी अछूता हो और 'व्यक्त मध्य' की रस्सी के सहारे नट नटराज बना फिर रहा हो ?

इधर व्यक्तित्व से पलायन और निर्वैयक्तिकता का बाजार गर्म है और उधर निराला जी का एलान है—

'काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर खासतौर से जोर देता हो तो इसे उसका अक्षम्य अपराध न समझ, उसकी विशाल व्याप्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा। कारण, अहङ्कार को घटाकर मिटा देना जिस तरह पूर्ण व्याप्ति है—जैसा भक्त कवियों ने किया, उसी तरह बढ़ाकर भूमा में परिणत कर देना भी पूर्ण व्याप्ति है—जैसा ज्ञानियों ने किया।'

यहाँ सविशेष उल्लेख्य हैं—

'विचार केवल काव्य का उचित है, न कि अन्य असंगत बातों का। अधिकांश आलोचक अपने ही विवर के व्याघ्र बने बैठे रहते, अपनी ही दिशा के ऊँट बनकर चलते हैं।'

पर आधुनिक आलोचकों से ऐसे कितने हैं जिनकी आलोचना काव्य के बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग को केन्द्रित करती है ? अधिकांश तो बहिरङ्ग के नाम पर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अन्तरङ्ग के नाम पर समाजवाद, दर्शन या मनोविज्ञान की ही चर्चा करते हैं !

किन्तु भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष के विकास के क्रम में इतिहास, दर्शन, समाज-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के महत्त्व को कैसे अस्वीकृत किया जा सकता है ? प्रबन्ध काव्य वस्तु-निष्ठ होने के कारण गीति-काव्य से अधिक उक्त तत्त्वों से सम्पृक्त रहता है, फिर उपन्यास तो इस युग के वास्तविक महाकाव्य हैं, उनकी परीक्षा का आधार क्या होगा ? 'अन्ना केरेनिना', 'मैडम बैवरी', 'पेंटड वेल'—ऐसे विश्व-उपन्यासों का प्रसंग न उठाया जाय तो भी 'सेवासदन' से 'गोदान' तक के औपन्यासिक सोपान ब्रह्मानन्दसहोदर रसों के परिपाक के निमित्त कहाँ तय किये गये हैं ? 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा' या 'विवर्त' मनोवैज्ञानिक भित्ति पर दी तो प्रस्तुत हुए हैं ! और

दो सौ इक्यावन

प्राच्यसाहित्य

‘शेखर’ तथा ‘नदी के द्वीप’ की तो शव-परीक्षा भी अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना एवं गुण, दोष, रीति, अलङ्कार के औजारों से सम्भव नहीं है ! फिर इस परम्परा का, महाशङ्कर का, सबसे नया उपन्यास— ‘नील गगन की वासना’ तो मनोग्रन्थियों के विश्लेषण में और भी सूक्ष्म तथा सघन हो गया है ! अस्तु,

काव्य तथा काव्यालोचन की सीमाएँ क्या हों ? सीमाएँ न हों तो उन्हें अभिव्यक्ति के अन्यान्य प्रकारों से कौन पृथक् करे !

हिन्दी की प्राचीन आलोचना गुण-दोष की पद्धति पर चलती थी । आचार्य्य शुक्त ने विवेचन, मूल्याङ्कन तथा तत्त्व-निरूपण द्वारा उसे परिष्कृत किया । मनोवैज्ञानिक विवेचन को रिचार्ड्स की भाँति उन्होंने भी साहित्यिक विवेचन का साधन बनाया । आचार्य्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसे और गहराई दी । ‘हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी’ में उन्होंने अपना अभिमत सुस्पष्ट शब्दों में प्रकट किया—

“काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं । सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं । काव्य तो मानव की उद्भावननात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है । उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण बाह्य स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं ।”

मैं समझता हूँ, इस मान्यता का पूर्ण परिणाम ‘यामा’ की समीक्षा में उपलब्ध होना चाहिए । यद्यपि उसमें दार्शनिक पक्ष का विवेचन ही अधिक पुष्ट तथा प्राञ्जल दिखता है । किन्तु, एक बात लक्ष्य करने की है कि कविता की व्याख्या का पक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल है और कवि का सर्वाधिक अपेक्ष्य कदाचित् वही होता है । उदाहरण के लिए—

‘निशासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार,

लुट जाते अभिराम झिझ मुक्तावलियों के बन्दनवार;

दो सौ बावन

काव्य तथा काव्यालोचन की सीमाएँ

तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार —

आँसू से लिख-लिख जाता है—कितना अस्थिर है संसार ।’

—महादेवी वर्मा

इस सरल-सरस कविता को वाजपेयी जी क्षिप्त कल्पना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

“आकाश में रात्रि के समय अचानक बादल छा गये हैं और पानी बरसने लगा है। इसी अवस्था की कल्पना यह जान पड़ती है। अथवा यह रात्र्यन्त की कल्पना है। रात्रि के, मुक्तावलियों के अभिराम बन्दनवार (तारिका-पंक्ति) छिन्न होकर लुट गये हैं। निःश्रासों का नीड़ उसका शयनागार बन गया है (इसका इतना ही अर्थ मेरी समझ में आ पाता है कि रात्रि दुःखपूर्ण निश्वास ले रही है)। तारे बुझ रहे हैं, बूँदें गिरने लगी हैं, यही मानो बुझते तारों के नीरव नयनों का हाहाकार और उसके आँसू हैं जिनके द्वारा यह लिखा जा रहा है, ‘संसार कितना अस्थिर है!’ कितनी कल्पना हमें ऊपर से करनी पड़ती है, कृपया विचार कीजिए। और अब भी मुझे निश्चय नहीं कि मेरा अर्थ ठीक ही है।”

निस्सन्देह यह वर्णन निशावसान का ही है। बादल के छा जाने और पानी के बरसने लगने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कवयित्री निशा के ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता से विश्व की नश्वरता का निष्कर्ष निकाल रही हैं। कहती हैं कि निशा-सुन्दरी का वासर-गृह जब निश्वासों का घोंसला बन जाता है; (‘चित्रसारी’ की सारी भव्यता जैसे एक घोंसले में सिमट जाती है!) सबेरे-सबेरे का कुहरा यों छाता चला जाता है कि शयनागार की आकाश-सी प्रशस्तता और चमक-दमक का कहीं पता तक नहीं लगता! यह प्राकृतिक जगत् का कुहासा भाव-जगत् का उच्छ्वास-निश्वास है। वासकसञ्ज्ञा-जैसी रमंग-तरंगों-भरी निशा-सुन्दरी ने जो ऐश्वर्य-गर्वित स्वप्न सँजोए थे, वह क्रम-क्रम से उच्छ्वासों से उड़ते गए, निश्वासों में विलीन होते गए। और अब उस छवि-वेश्म में उच्छ्वास-निश्वास ही शेष रह गए हैं; कुहरा-कुहरा भर दिखता है। यह तो हुई अन्तर्गृह की तसवीर। और बाहर जो मोती की लड़ियों-जैसी गुँथी-गुँथी तारावलियों के बन्दनवार तने

दो सौ तिरपन

प्राच्यसाहित्य

हुए थे जिनसे वह निलय-निवास वासर-गृह की आभा से मण्डित था, वह भी (जहाँ-तहाँ से तारों के टूटते जाने के कारण) छिन्न-भिन्न होते-होते लुट गए, खत्म हो गए। यहाँ बन्दनवारवाली नखत-पाँती अपेक्षाकृत दूरतर प्रदेश से टिमटिमानेवाली समझी जानी चाहिए, क्योंकि आगे की पंक्ति में नयन-तारों का स्पष्ट उल्लेख है। वे प्रकाश-विन्दु-सी तारिकाएँ तो जैसे लुट गईं और ये नयन-तारे बुझते-बुझते-से अब भी देखे जा सकते हैं। (वे जैसे मोती के पिरोये दानों-सी थीं जो किसी रूप के स्वागत के निमित्त उत्सुक आँखों से, चिर-प्रतीक्षा के पश्चात् भी उसके न दिखने पर, टूटे हुए बन्दनवार की तरह विगलित अश्रु-कण बनकर बिखर गईं; किन्तु ये तारे आँखों की पुतलियों-जैसे हैं जो अपने सामने ही समस्त वैभव को उजड़ते देख मन्द-मलिन पड़ गए हैं।) फिर नयनों की शालीनता तो यह है कि सब कुछ देख-सुनकर भी वे नीरव हैं; भीतर वेदना तरङ्गायित है मगर बाहर अजब-सी खामोशी है ! वे चीखते-बिछाते नहीं; प्रकृति में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले नारे नहीं लगाते, खामोश आँसुओं में फूट पड़ते हैं ! इस प्रकार उस निशा-सुन्दरी के बुझते हुए तारों-रूपी नीरव नयनों का हाहाकार शबनम के आँसुओं से जैसे यही लिख जाता है कि हाय रे, यह संसार कैसा क्षणभंगुर है !

इसके रूपक इतने स्पष्ट हैं और ध्वनियाँ इतनी प्रभावशाली कि इसमें क्लिष्ट कल्पनाओं की कल्पना करना ही क्लिष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि, इससे एक ही सीढ़ी नीचे उतरने पर तो 'प्रसाद-गुण-वैदर्भी-रीति-युक्त' इतिवृत्तात्मक कविताओं के अम्बार से साक्षात्कार होता है।

अस्तु, काव्य तथा काव्यालोचन की सीमाएँ ढूँढ़ निकालना सम्भव नहीं है। प्रत्येक कवि काव्य को एक नई भूमिका में उतारने का प्रयास करता है; प्रत्येक आलोचक पाठक के सिर अपनी मान्यताएँ मढ़ने का आग्रह करता है। मैं समझता हूँ, इन्हें असीम ही रहने देना चाहिए। सीमाओं का बन्धन इन्हें असह्य होगा।

इस सम्बन्ध में एक ही निदर्शन और प्रस्तुत करूँगा।

दो सौ चौवन

हिन्दी में गद्यकाव्य नहीं के बराबर है। सर्वश्री रायकृष्ण दास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, नन्दकिशोर तिवारी और ब्रह्मदेव उसके प्रतिनिधि कहे जायेंगे। ब्रह्मदेव में संवेदना-तत्त्व की अधिकता होने के कारण उनकी मार्मिक कृतियों की तुलना में औरों का गद्यकाव्य नोक-झोंक-जैसा लगता है। उनके 'निशीथ' और 'उदीची' के गद्य-गीत अपने रसावेश तथा प्राणवत्ता में अतुल हैं।

भारतीय कवियों में इस शैली के प्रवर्तक कवीन्द्र रवीन्द्र समझे जाते हैं। उनकी अँगरेजी-गीताञ्जलि को ही इसका श्रेय प्राप्त है, जब भी उन्होंने स्वतन्त्र रूप से कितने ही गद्य-गीत लिखे हैं। किन्तु कवीन्द्र रवीन्द्र तथा कविवर ब्रह्मदेव की गद्यगीत-विषयक मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ कवीन्द्र कहते हैं—

‘... किन्तु एमन मेये देखा याय यार सहज चलनेर मध्येइ विना छन्देर छन्द आछे। कविरा सेइ अनायासेर चलन देखेइ नाना उपमा खुँजे बेढ़ाय। से समयेर चलनटाइ काव्य ताते नाचेर ताल नाइ बा लागल, तार संगे मृदंगेर बोल दिते गेले विपत्ति घटवे। तखन मृदंग के दोष देव ना तार चलन के ? सेइ चलन नदीर घाट थेके आरम्भ करे राआघर वासरघर पर्यन्त। तार जन्ये मालमसला बाछाइ करे विशेष ठाट बानाते ह्य ना।

गद्यकाव्येरओ एइ दशा। से नाचे ना, से चले। से सहजे चले वलेइ तार गति सर्वत्र। सेइ गतिभंगी आबोँधा।’

वहाँ कविवर ब्रह्मदेव ने गद्यगीत तथा गीतिकाव्य की संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करते हुए कहा है—

‘गद्यगीत और गीतिकाव्य का अन्तर संक्षेपतः नृत्य और गान का अन्तर है। जहाँ एक भूमि पर संवेदना का नृत्य-संज्ञाप हमारे प्रथम स्पर्श में रहता है और संगीत की मीठ-मूर्च्छना पृष्ठभूमि में डूबती-उतराती रहती है, वहाँ दूसरी भूमि पर संवेदना का द्रवित कण्ठ हमारे हृदयों में संगीत उडेलता रहता है और हमारी रसावृष्टि दृष्टि के आगे चित्ति, स्मृति और अनुभूति की श्वेत नील छाया पृष्ठभूमि में लहराती रहती है।

जिस प्रकार गेय में समस्त अगेय की वेदना मुखर है, उसी प्रकार अगेय में समस्त गेय की वेदना चित्रित-नत्तित है।

प्राच्यसाहित्य

गीतिकाव्य और गद्यगीत का अन्तर यही है कि एक गान है तो दूसरा नृत्य । गद्यगीत सम्भवतः वह है जो या तो संगीत से तिरकर, कढ़कर आया हो या आगे चलकर संगीत में डूब जाय ।'

जो हो, गद्यकाव्य चाहे सहजगति होने के कारण निर्बाध सर्वत्र-प्रामी हो या नृत्यशील अतः संगीत-सापेक्ष; किन्तु उसकी नृत्य-गति निर्वाक नहीं है । अवश्य उसकी सार्थकता ध्वनित होने की अपेक्षा प्रतिध्वनित होने में ही है :—

‘हे प्रभु, आलोक और अन्धकार, दोनों ही तुम्हारे वरदान हैं, तुम आलोक में मुसकाओ, मुझे अन्धकार में बैठा-बैठा रोने दो ।

हे प्रभु, मन्दाकिनी और दिग्मरीचिका, दोनों ही तुम्हारी अर्चासिन्धु की धाराएँ हैं । तुम मन्दाकिनी की धारा पर कमलों से अपना शृंगार करो मुझे मरीचिका की छाया में अपने अश्रु विसर्जित करते हुए चलने दो ।

हे प्रभु, प्रसून और कण्टक, दोनों ही तुम्हारे उद्यान की अभिसारवीथिका पर बिछे हैं । तुम अपने वरमाल्य के लिए कोमल फूलों का चयन करो और मेरे एकान्त को सजल रखने के लिए कण्टकों की तीव्र, तोषण पीड़ा छोड़ दो !’

—‘उदीची’, १६

अन्तर्वेदना की इस निविड़ अन्तरङ्गता को, दुःख से इस सस्मित कण्ठाश्लेष को, आत्म-निवेदन की इस असंभृत निस्सङ्गता को और किन उपकरणों से उपलब्ध किया जा सकता है !

‘Pluck this little flower and take it, delay not !

I fear lest it droop and drop into the dust.’

कवीन्द्र रवीन्द्र की आत्मार्पण की यह चपल विकलता या

‘Fair Deffodils, we weep to see

You haste away so soon;

As yet the early rising sun

Hss not attained his noon,

Stay, stay,

Until the hasting day

Has run

दो सौ छप्पन

But to the even song;
And, having pray'd together, we
Will go with you along.'

हेरिक की निर्वेदपूर्ण आत्मविसर्जन की यह विवशता श्री ब्रह्मदेव के उक्त सुखी दुःख के सम्मुख ऊर्ध्वमुख नहीं रह सकती। अवश्य उसमें 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं' की तत्त्वज्ञता या

'I am the master of my fate :
I am the captain of my soul.'

की विरस आत्मनिर्भरता का प्रतिपादन अभिप्रेत नहीं है। वह भावुकता-भरी कवि-मानसी के सुरीले तारों की सजल झङ्कार ही है। इस द्वन्द्वात्मक विश्व में कवि निर्द्वन्द्व हो अन्धकार, मरीचिका और कण्टक-पथ का पथिक रहा है, यह अभाव उसमें भाव-रूप से ही प्रतिष्ठा प्राप्त करे, इस अभाव पर उसे अभियोग, आक्रोश या क्षोभ नहीं है। कैसे कहूँ, यह 'नहीं है' की अन्तर्ध्वनि 'है' के जिस सूक्ष्म बिन्दु की ओर गूढ़ संकेत करती है, उसकी अभिव्यक्ति आत्म-वंचना के लिए प्रचलित छायावाद, रहस्यवाद ऐसे रूढ़ शब्दों में नहीं समाती और लक्षणा, व्यञ्जना के पारिभाषिक प्रस्तार से घ्राण पाकर ही संप्राण रह पाती है। फिर—

‘प्रभु, शून्य में तुम्हारी कल्पना है, संसार में तुम साकार हो;
बताओ किसकी पूजा करूँ ?

प्रभु, कर्तव्य अपने को गतिशोल करता है, प्रेम एकाग्र;
बताओ किसका अनुसरण करूँ ?

प्रभु, स्वप्न श्रमविहीन पथ है और सत्य रक्त के वाष्प से प्रतप्त;
बताओ किसका वरण करूँ ?

प्रभु, कर्म में लोक की स्थिति है, ज्ञान में प्रलय;
बताओ किसे अपनाऊँ ?

प्रभु, कामना शीतल हिम-नदी की यात्रा है और त्याग अमृत सिंधु;
बताओ जीवन कहाँ निरापद है ?

दो सौ सत्तावन

प्रभु, द्वन्द्व के शृङ्खल में बँधे पैर—एक तो तुम्हारे मन्दिर के
भीतर है और एक बाहर ; बताओ तुम भीतर हो या बाहर ?
मैं कहाँ जाऊँ ?

—उदीची, १

जिज्ञासा की भाषा में यह अवोध आरम-बोध ! संभ्रम के भुरमुट से
भाँकता हुआ यह स्तिमित प्रकाश !! इस असीम वासना और अनन्त
वेदना का तो काव्यालोचन की परिधि के पार एक अनिवार काव्य-
संगीत (Philomela : M. Arnold) के सहारे ही आत्मसात्
करना होगा—

'Hark ! ah, the nightingale !

The tawny-throated !

Hark ! from that moonlit cedar what a burst !

what triumph ! Hark—what pain !'

×

×

×

'Listen, Eugenia—

How thick the bursts come crowding through the
leaves !

Again—thou hearest ?

Eternal passion !

Eternal pain !'



